श्रीभागवत—दर्शन :—

भागवती कथा

(पचीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:*:—

लेखकः—
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, झूसी (प्रयाग)

—:*:*:— संशोधित मूल्य २-०

तृतीय संस्करण] चैत्र, सं० २०२४ वि० [मूल्य १) ६५

मुद्रक—संकीर्तन प्रेस, वंशीवट वृन्दावन ।

विषय—सूची

॥ श्रीहरिः ॥

भागवत प्रेसोद्घाटन

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः ॥

महानुभावो !

आप सब संकीर्तन भवन के उत्सवों में सदा आते ही रहते हैं, किन्तु आज एक विशेष कार्य के लिये आप पधारे हैं। वह है "भागवत प्रेस" की स्थापना।

भागवत प्रेस की आवश्यकता

आप कहेंगे कि इस प्रशान्त वातावरण में इस प्रेस आदि की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? हमारे प्राचीन ऋषि मुनि तो इन कोलाहल पूर्ण कार्यों से सदा पृथक रह कर भजन-पूजन करते थे। बात तो सत्य ही है, किन्तु युग धर्म हमें विवश कर देता है कि हम कितनी भी प्राचीनता चाहें, फिर भी हमें नवीनता को अपनाना ही होता है। अपने भावों को जनता के समक्ष रखने के वर्तमान युग में दो ही साधन हैं, प्रेस और व्याख्यानमंच। व्याख्यानमंच से भी जो प्रचार होता है उसे भी प्रेस का आश्रय लेना पड़ता है। अतः इस युग में भावों के प्रचार और प्रसार का प्रधान साधन है प्रेस। राजनीति में भी यही बात है, जिसका प्रेस का बल जितना ही प्रबल होगा, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होगा और राजनैतिक सत्ता भी उन्हीं के अधिकार में होगी। प्राचीन काल में आत्मबल से

ही सब होता था। आत्मबल कम होने से इन कृत्रिम उपायोंका अवलम्ब लेना पड़ता है।

धार्मिकप्रचार का अभाव

आजकल जैसी कलुषित राजनीति हो गई है, वैसी प्राचीन युग मे कभी नही रही होगी। आज का युग चाहता है बच्चा बच्चा राजनीति में भाग ले। यह सब भौतिकवाद को ही सब कुछ जानने के कारण हुआ है। लोगों ने राजनैतिक सत्ता को ही उन्नति का चर्म लक्ष्य मान लिया है। आज का शिक्षित समाज यही चाहता है, छलसे, बलसे, कलाकौशल से जैसे भी हो, मैं राजनैतिक पदों को प्राप्त कर सकूँ पहिले यह बात नही थी। पहिले सब का लक्ष्य था भगवत् प्राप्ति। भगवान् को प्राप्त करने के निमित्त बड़े बड़े चक्रवर्ती राज्यपाट को तृण के समान त्याग कर निष्किञ्चन बन कर वनों में चले जाते थे। यदि राजनैतिक सत्ता से ही सब कुछ होता, तो वे सब को त्याग कर अकिंचन बनकर जीवन यापन क्यों करते? राजनीति बड़ा नीरस विषय है, किन्तु धर्म के साथ मिलकर अत्यन्त सरस बन जाता है, जैसे सोने मे सुगन्ध। किन्तु आज की राजनीति धर्म से पृथक ही रहना चाहती है, धर्म को निर्मूलन करनेको कटिबद्ध है। जब हमारे सत्ताधारी राजनैतिक नेताओं की ही ऐसी धारणा है, तो फिर उनसे धर्म के प्रचार और प्रसार की वृद्धि होगी, यह तो आशा करना निराशास्पद ही है।

हिन्दु धर्म के महान् ग्रन्थ

हिन्दु धर्म के प्रधान ग्रन्थ हैं उनका वेद। वेद इतने विस्तृत और गहन हैं कि उनका सर्व साधारण को पढना और सुनना कठिन ही नही असम्भव सा हो गया है। सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यास जी ने कलियुगी जीवों पर कृपा करके अनन्त वेद राशि में से छाँट छाँट कर चार संहिताएँ बना दी। फिर उनके भाष्य रूप में महा

भारत और अष्टादश पुराणो की रचना की। जो बातें वेदोंमें बीज रूप से है उसी का पुराणो में विस्तार किया गया है। पुराण अठारह हैं, अठारह ही उपपुराण हैं, और औपपुराण भी हैं। इस प्रकार पुराण भी बहुत हैं। ५५ पुराण तो अब भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार पुराण भी असंख्यो हैं। इतने वेद पुराणो की रचना करके भी भगवान् वेदव्यास जी को शान्ति नही हुई। तव श्रीमद-भागवत की रचना की।

श्रीमद्भागवत क्या है ?

श्रीमदभागवत् मे समस्त वेद पुराणो का सार लेकर रख दिया है। इस बात को भागवतकार ने भागवत को आरम्भ करते ही बताया है कि भागवत क्या है ?

> इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।
> उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥
> सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
> स तु संश्राक्ष्यामास महाराजं परीक्षितम् ॥
> (श्री भा० १ स्क० ३ अ० ४०, ४२ श्लो०)

अर्थात् यह श्री मद्भागवत पुराण वेद सम्मत है इस में भगवान् के चरित्र हैं, ऋषिवर भगवान् वेदव्यास जी ने इसे बनाया है। सम्पूर्ण वेद और इतिहास का सार इसमे ले लिया गया है। उसी को श्री शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित को सुनाया है।" यही श्री मद्भागवत का परिचय है, इसमें असत्य नही, अत्युक्ति नही, बढ़ावा नही, यह बात अक्षर अक्षर, सत्य है और ध्रुव सत्य है। इसलिए भागवत का नाम 'पुराण तिलक' है। यह सभी पुराणों मे श्रेष्ठ है। आप जितने महानुभाव यहाँ विराजमान है उनमें बहुत थोड़े ऐसे होंगे, जो अठारह पुराणों के नाम जानते होंगे। किन्तु आप मे से स्यात् ही कोई ऐसा होगा जिसने श्रीमदभागवत का

नाम न सुना हो । चाहे देहात से देहात भी क्यों न हो वहाँ भी भागवत का सप्ताह हुआ होगा । श्रीमद्भागवत साधारण पुस्तक मात्र नहीं उसे हमारे यहाँ भगवान् का साक्षात् वाङ्मय स्वरूप बताया है । 'भागवती कथा' इसी परम पावन ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है ।

भागवती कथा में क्या है ?

आप कहेंगे, श्रीमद्भागवत तो छोटा सा ग्रन्थ है । सम्पूर्ण भागवत का गुटका सवारुपये मे मिलता है, उसी के आधार पर आप १०८ खण्डों में क्या लिखेंगे ? यह भागवत का अनुवाद है, भाष्य है, समालोचना है या संग्रह है,?" इसका उत्तर मैं दो दृष्टान्त देकर दूँगा । दस मन दूध है, अब उसे हम यात्रा में साथ ले जाय, तो कठिनता पड़ेगी । अतः आधुनिक यन्त्रों से उसके जल को सुखा देते हैं उसके सारअंश को निकाल कर उसका चूर्ण बनाकर डिब्बे में भर लेते हैं । फिर जब आवश्यक्ता हुई दस मन पानी मिलाकर उसे फिर दश मन दूध बना लिया । बीस मन भी बना सकते हैं । यह जो दूध बनेगा, पहिले से पाचक हल्का और सर्वसाधारण के उपयोगी होगा । उसी प्रकार दश मन ऊख का रस है, उसको निर्मल बनाते बनाते उसकी दस बीस सेर मिश्री बनाली । उसका भी सार लेकर एक गोली बनाली । उस गोली को दस मन जल में डाल दी तो दशमन जल का शरबत बन जायगा । इसी प्रकार समस्त रामायण, महाभारत, समस्त वेद पुराण तथा शास्त्रों से सार लेलेकर भगवान् वेदव्यास ने अठारह हजार श्लोकों मे उसे रख दिया है । जैसे व्यापारियों के यहाँ एक तो होती है दैनन्दिनी बही (रोजनामचा) उसमें नित्य के आने जाने का आय व्यय विस्तार से लिखा रहता है । एक होती है खाता बही । उसमें केवल सब का संकेत रहता है । बात दोनों में एक है, अंतर इतना

ही है, एक में विस्तार है एक में सूक्ष्म है। भगवान् व्यास ने एक एक श्लोक में इतनी कथायें भर दी हैं, कि १०८ भाग क्या एक लाख भाग मे भी उनका पूरा विस्तार नही हो सकता। इसलिये जिसने जब तक महाभारत और अठारहों पुराणो को न पढा हो, तब तक उससे पूर्णरीत्या भागवत लगती नही। अब जैसे भागवत में कह दिया—

नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतांगतः।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥

अर्थात् चक्रवर्ती महाराज दिष्ट के पुत्र नाभाग हुए जो कर्मणा वैश्यता को प्राप्त हुए, अर्थात क्षत्रिय से वैश्य बन गये। उनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज भलन्दन हुए और भलन्दन के पुत्र महाराज वत्सप्रीति हुए। भागवत मे केवल इतना ही उल्लेख है। अब इसमे शंका उठती है चक्रवर्ती दिष्ट के पुत्र क्षत्रिय से वैश्य क्यो हो गये? फिर वैश्य का पुत्र वैश्य ही होना चाहिये। उनका पुत्र चक्रवर्ती कैसे हो गया? केवल भागवत पढने से यह बात समझ में नही आ सकती। भागवतमें केवल बीज है इसका पूरा विवरण मार्कण्डेयपुराण मे मिलेगा। नाभाग, भलन्दन और वत्सप्रीति की बड़ी ही सुन्दर रोचक कथायें विस्तार से मार्कण्डेय पुराण मे मिलेंगी। बिना उन कथाओं को सुने इसका अर्थ लग ही नही सकता। जो बात भागवतकार ने एक श्लोक मे कही है, उसका विस्तार तीन अध्यायों मे ५०।६० पृष्ठों में बताया जायगा। इस प्रकार भागवती कथा में संक्षिप्त ज्ञान का विस्तार मात्र है। भगवत और भगवद् भक्तो के सम्बन्ध की भागवत सम्बधित जितनी सरस शिक्षाप्रद कथायें है उनका सरसता के साथ 'भागवती कथा' में वर्णन किया गया है। अब वह वर्णन कैसा हुआ, लेखक को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिली इसे बताने का काम मेरा नहीं, इसका निर्णय पाठक स्वयं ही करें किन्तु एक बात मैं कहता हूँ, बिना इन

भगवत् सम्बन्धी कथाओ के सुने, शान्ति नही, सुख नही, कल्याण नही, उन्नति नही, । आज जो सब ओर धर्म को ठुकराया जा रहा है, धार्मिक शिक्षा की अवहेलना की जा रहीहै, उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है यह वाञ्छनीय नही, दुःखद प्रसग है । बिना धार्मिक शिक्षा के चरित्र बल नही आता, बिना चरित्र बल के प्राणी सदाचारी नहीं बन सकता। बिना सदाचार के समाज में शान्ति नही स्थापित होती । आप विधान (कानून) के सहारे अन्याय को नही रोक सकते, जब तक आप कानून पालन करने वालों के मन में यह बात न बैठा दें, कि ऐसा करना अनुचित है । आप विधान बना दें "गंगा किनारे शौच मत जाओ" लोगों को अवसर मिलेगा अवश्य जायँगे, किन्तु आप उनके मन मे यह बैठा दें कि गंगा किनारे शौच जाना अधर्म है, पाप है तो चाहें आप के सिपाही वहाँ हों न हों, वे कभी वहाँ शौच न बैठेंगे । आप घूँस खोरी के लिये जितनी भी समिति बनाइये, कितने भी निरीक्षक नियुक्त कीजिए, कितना भी दड दीजिये, घूँसखोरी नहीं रुकेगी नहीं रुकेगी । आज से २५-३० वर्ष पहिले की बात मैं कहता हूं, पुलिस में भी बहुत से दरोगा, सिपाही हिन्दू मुसलमान ऐसे होते थे जो दूसरे के यहाँ की इलायची लेना भी पाप समझते थे । सन् २१ के असहयोग आन्दोलन मे एक मुसलमान दरोगा मुझे मिला था उसके लिये एक पैसा भी सूअर के मांस के बराबर था । एक नही ऐसे बहुत से मिलते थे । अब की क्या दशा है उसे बिना ही कहे सब समझते हैं । पहिले यह भावना थी अधर्म का पैसा कभी फलीभूत नहीं होता आज सुधारकों ने धर्म को जीवन से निकालकर फेंक दिया है । वे कानूनी पकड़ को बचाकर दोनों हाथ से बटोर कर घर भर लेना चाहते हैं और इसे एक कौशल समझते हैं ।

पहाड़ों में अब भी जितनी धार्मिक मान्यता है उतनी मैदान में नहीं । इसलिये पहाड़ी जिलों में पुलिस की आवश्यकता नहीं होती ।

पुलिस तो वहाँ हो जहाँ चोर हो। वहाँ एक पटवारी से ही सब काम चलता था। जब से हम सभ्य लोगों ने वहाँ सभ्यता का प्रचार किया है तब से वहाँ भी अब चोरियाँ होने लगी हैं, मुकदमे आरम्भ हुए हैं। पहिले वहाँ सब व्यवहार धर्मसे चलता था। हम अपने बालकपन मे सुना करते थे, 'तुम बद्रीनाथ आओ रास्ते में सोना पड़ा रहे कोई उठावेगा नहीं लौट कर वही पड़ा मिलेगा। यह बात मिथ्या नही। ५० वर्ष पहिले ऐसा होता था। देखने वालो ने देखा है। एक घटरा मैं सुनाता हूँ।

आज से १५-२० वर्ष पूर्व मैं देहरादून के पास सहस्र धारा में ठहरा हुआ था। वहाँ नदी के जल को रोककर पहाडी लोग खेतों को सींचने के लिये स्वयं नहर निकाल लेते हैं और उनकी पनचक्की लगा देते हैं' जिससे आटा पिसता है। एक फूस की झोपड़ी में पनचक्की होती है, उसमें किवाड नही होते। जो चाहे जिस समय चला जाय। पानी को रोक दो चक्क, चलने लगेगी। अपना अन्न पीसकर, उसकी पिसाई छप्पर में रखे एक पात्र मे रख कर चले आओ। चक्की वाला तीसरे चौथे दिन जाकर उस पिसाई के आटे को ले आवेगा। मेरा अनुमान है अब भी पहाड़ों मे ऐसा ही होता होगा।

जहाँ मैं ठहरा था, मेरे पास ही एक चक्की थी। मैं उसके भीतर गया। एक सक्का आटा पीस रहा था। मैंने पूछा—"तुम्हें पिसाई देनी पड़ती है?" उसने कहा—"अन्दाज से रख जाते हैं।" मैंने आश्चर्य से पूछा—"यहाँ कोई पिसाई लेने वाला तो है ही नहीं।" उहने कहा—यही पिसाई रख जाते हैं। दो चार दिन मे चक्कीवाला ले जाता है।" मैंने कहा—"यदि तुम न रखो तो?" इतना सुनते ही उसकी आखें लाल पड़ गई और बोला—"तुम कैसी बाते करते

हो, हमारे धर्म नही क्या ? हम पिसाकर उसकी पिसाई नहीं रखेंगे ? हमारे बाल बच्चे नही क्या ?"

आप सत्य समझें इस उत्तर को सुन कर मेरा हृदय धक् धक् करने लगा। मन ही मन मैंने उसे प्रणाम किया और सोचा धर्म का मर्म इसी ने समझा है। पहिले लोग धर्म से डर कर व्यवहार करते थे। हम धर्म के विरुद्ध कार्य करेंगे, तो हमें परलोक में इसका फल भोगना पडेगा। ये सब शिक्षायें हमें पुराणों से मिलती है। शंख और लिखित की कथा, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, रंतिदेव, शिवि, दधिचि तथा ऐसी ही मनोरंजक, शिक्षाप्रद सहस्रों कथाये वर्णित है। पुराणों को पढते पढते मेरी तो ऐसी धारणा हो गई है कि कोई भी व्यक्ति ऐसी एक भी कथा की कल्पना नहीं कर सकता, जिसका स्रोत पुराणों में न हो। आज हम उपन्यास कहानियों को पढ़ने के लिये विदेशी भषाओं का विदेश लेखको का मुंह ताकते हैं। अपने यहाँ नहीं देखते पुराणों म कितनी सुन्दर सुन्दर शिक्षाप्रद कथायें भरी पडी हैं। संसार के समस्त भाव ''रौद्र, अद्भुत, शृंगार, हास्य: वीर, वात्सल्य भयानक, वीभत्स शान्त, प्रेम और भक्ति इन ग्यारह रसो के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इन ग्यारहों का पुराणो में इतना सुन्दर विवेचन किया गया है कि पढते पढते मन मुग्ध हो जाता है। आजकल के युवक शृंगार रस की कहानियों के, शृंगार रस के नाटक, सिनेमाओं के ऐसे उपासक हो गये हैं कि इनके बिना उन्हे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। किन्तु पुराणो में जो शृंगार का वर्णन है, वह मर्यादा में है। आजकल का शृंगार मर्यादाहीन, हेय और अत्यन्त ही तुच्छ है। आज हम "भरतीय संस्कृति भरतीय संस्कृति, चिल्लाते तो बहुत हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि भारतीय संस्कृति पुराणो में ही निहित है। संस्कृति के भंडार पुराण ही है। उसी पौराणिक ज्ञान के प्रसार के निमित्त' उसी भारतीय संस्कृति के दिग्दर्शन के निमित्त "भागवती कथा" का प्रकाशन एक लघु प्रयास है।

भागवती कथा के अब तक चौबीस खंड प्रकाशित हो चुके हैं। १०८
प्रकाशित करने का विचार है, जितने भी हो जायँ, इसे तो भगवान् ही
जाने लिखना तो हमारे लिये सरल है, किन्तु प्रकाशन का पचडा कठिन
है, हमारी शक्ति प्रकृति और स्थिति सब के बाहर की बात है, किन्तु किसी
दैवी प्रेरणा से यह सब हो रहा है। पहिले हमने यह चेष्टा की कोई
बडा प्रकाशक इस कामको अपने हाथों में ले ले। हम सब झ झटोसे छूट
जायँ। बहुतो से प्रार्थना की सब ने कहा—इतने बड़े ग्रन्थ को हम प्रकाशित
नही कर सकते। भिन्न भिन्न विषय की १०८ पुस्तकें निकालना तो विशेष
कठिन नही है, किन्तु एकही ग्रन्थ के १०८ खड निकालना कठिन कार्य है,
अबके अमुक खड नही है, अबके वह चुक गया।"

प्रकाशकों कायह कहना सत्य ही निकला २४ खड प्रकाशित करके
ही हम अनुभव कर रहे हैं कि यह काम सरल नही। प्रथम खंड तीन वार
छप चुका, चौथी वार छपने वाला है। सात खड तक दो दो वार छप
चुके। आठवाँ खड बहुत दिनो से अप्राप्य है इस प्रकार अनेकों कठनाइयाँ
हैं प्रेस वाले कितना तग करते हैं, इस बात को अब हम नही कहेंगे।
क्योंकि आज से हम भी तो उन्हीं की श्रेणी में आ जाते हैं। इतना बडा
कार्य अपने निजी प्रेस के बिना हो नही सकता था। इसलिये 'भागवत
प्रेस' की स्थापना का यह लघु प्रयास है। अभी तो चार पेज की एक
छोटी सी हाथ से चलाने की ट्रेडिल मशीन है। भगवान् की इच्छा इस
काम को बढाने की हुई तो थोड़े ही दिनो में भागवती' कथा का सब
काम यही होने लगेगा। आप सब के चरणों में यही प्रार्थना, है कि आप
ऐसा आशीर्वाद दे कि हम इन कार्यों को शुद्ध भगवान् की सेवा समझते

हुए करें। उनको न भूलें, हर कार्य में उन्ही का सदा स्मरण बना रहे। धर्म की रक्षा, धर्म का प्रचार, और प्रसार भगवान् ही कर सकते हैं. धर्म भगवान् को बहुत प्रिय है, अतः धार्मिक ग्रंथों का प्रचार प्रसार भगवान् की प्रिय सेवा है यह सेवा हम प्रमाद रहित हो कर करें, हमारे मन मे अहंभाव न आवे और हम अपने को चराचर का सेवक समझ कर सेवा करे। ऐसा आशीर्वाद आप सब हृदय से दे—

वांञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यचो वैष्णवेभ्यो नमोनमः॥

संकीर्तन भवन, भूसी प्रयाग
ज्येष्ठ—कृ० ५। २००६ वि

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

सूर्यवंश में प्रथम पृषध्र की कथा

(५६५)

पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणाकृतः ।
पालयामास गायत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० २ अ० ३ श्लो०)

छप्पय

इक्ष्वाकु नृग आदि भये सुत मनु के पुनि दश ।
प्रथम पृषध्र चरित्र कहूँ फिर औरनि को यश ॥
कीये गुरु गोपाल कुमर रक्षक गाइनि कूँ ।
हिंसक आवें सिंह व्याघ्र मारें नित तिनि कूँ ॥
एक दिना निशि धेनु कूँ, पकरि सिंह भाग्यो तहाँ ।
डकराई गैया जबहिं, लै असि सो पहुँच्यो वहाँ ॥

गोएँ लोक की माता हैं, जो गौओं की रक्षा नहीं करता उनके वध में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता देता है, वह दस्यु है, वर्णाश्रम से बहिष्कृत है गोवध का इतना बड़ा

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन् ! वैवस्वत मनु के पुत्र पृषध्र को गुरु वसिष्ठ ने अपनी गौओं का रक्षक बनाया। वह राजकुमार रात्रि में सावधानी के साथ वीरासन से बैठकर गौओं की रक्षा करता रहता था।"

पाप है कि उसका प्रायश्चित्त प्राण त्याग ही है। प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि सभी गौ सेवा में निरत रहते थे। देवता के समान उसकी पूजा करते थे। उनमें पशु बुद्धि रखना पशुता ही नहीं पाप भी है। गौ के समस्त अङ्गों में सभी देवता वास करते है। गौ की पूजा करने से सब देवता पूजित होते हैं। अतः गौ के महत्व बताने के लिये प्रथम मनु पुत्र पृषध्र का चरित्र वर्णन करते है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मैंने वैवस्वतमनु के प्रथम पुत्र सुद्युम्न का विचित्र चरित्र अत्यन्त संक्षेप में सुनाया। यद्यपि सुद्युम्न बड़े थे, किन्तु उन्होने स्त्री बनकर अन्य वश की वृद्धि की उनके वंशज चन्द्रवंशी कहाये। प्रधानतया वैवस्वत-मनु का वंश सूर्यवंश ही है। अतः मैं पहिले सूर्यवंश का ही वर्णन करूँगा।

जब सुद्युम्न शिवजी के शाप से दुखित होकर वन में चले गये। तब वैवस्वतमनु ने यमुनाजी के तट पर जाकर पुत्र की कामना से १०० वर्ष तक घोर तपस्या की। १०० वर्षों तक वे यज्ञ पुरुष भगवान् की यज्ञों द्वारा निरन्तर आराधना करते रहे। राजा की आराधना से पुराण पुरुष प्रसन्न हुए और उन्हें १० पुत्र होने का वरदान दिया। दस पुत्रों का वर-दान पाकर सूर्य पुत्र मनु को बड़ी प्रसन्नता हुई। कालान्तर में उनके इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र नभग और कवि ये दश पुत्र हुए, इनमें इक्ष्वाकु सबसे बड़े हुए। इसीलिए सूर्यवंश का नाम इक्ष्वाकु वंश भी है। पहिले मैं सूची कटाह न्याय से इक्ष्वाकु के अतिरिक्त शेष ९ का वर्णन करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब इक्ष्वाकु बड़े हैं, तब पहिले उनके ही वंश का वर्णन करना चाहिये। आप

बड़े के वंश का वर्णन न करके छोटे वंश का वर्णन क्यों करते हैं ? सूची कटाह न्याय क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! एक व्यक्ति लुहार की दुकान पर गया और उससे कहा मुझे एक बड़ी सी कढ़ाई बना दे ।" लुहार ने कढ़ाई बनाने का सब सामान ठीक किया त्यों ही एक आदमी आया और बोला—"भाई ! मुझे एक सूई बना दो ।" लुहार ने कढ़ाई के कार्य आरम्भ न करके पहिले उसे सूई बना दी ।"

इस पर एक ने पूछा—"क्यों भाई लुहार ! ये सज्जन पहिले से आये है, नियमानुसार तुम्हें पहिले इनका काम करके तब दूसरे का काम करना चाहिये । तुमने ऐसा न करके पीछे आने वालों का काम तो पहिले कर दिया और पहिले आये हुये के कार्य का कुछ भी घ्यान न किया ।"

इस पर लुहार ने कहा—"महाभाग ! इन कढ़ाई बन वाने वालों का कार्य बहुत बड़ा है । इसके लिये अधिक श्रम और समय की अपेक्षा है । सूई बनाने का काम तनिक देर में समाप्त हो जायगा, फिर निश्चिन्त होकर इनका काम करूँगा ।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! इसी प्रकार पहिले नृग, पृषध्र कवि, करूष, नारिष्यन्त तथा अन्यान्य मनु पुत्रों का वर्णन करूँगा । तब विस्तार से इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन करूँगा । जिसमें नराकृति परब्रह्म स्वयं साक्षात् कौशल्यानन्दन श्रीराम अवतरित हुए हैं । पहिले मैं इक्ष्वाकु से ९ छोटे भाइयों में से पृषध्र का चरित्र कहता हूँ ।"

श्री शुकदेव जी सूर्य वंश का वर्णन करते हुए महाराज परीक्षित को सुना रहे हैं—"राजन् जब श्राद्धदेव वैव त

मनु के दस पुत्र हो गये, तो एक दिन उनके कुल पुरोहित ने उनसे कहा—"राजन् ! तुम्हारे दस पुत्र हो गये हैं। एक हमें दे दो।"

राजा ने कहा—"महाराज ! सब आपके ही हैं। मैं भी आपका ही हूं देना लेना क्या ? आप जो आज्ञा बताइये।"

हँसते हुए वशिष्ठ जी ने कहा—"ऐसे नहीं राजन् ! कि कोडी कुठिला से हाथ मत लगाओ धन माल सब आपका ही है। ये तो शिष्टाचार की बातें हैं। मुझे मेरी गौओं की रक्षा के लिये अपने पुत्रों से पृषध्र को दे दीजिये।"

राजा ने कहा—"ले लीजिये महाराज ! बड़ी प्रसन्नता से। यह तो मेरा और पृषध्र का अहोभाग्य है, जो आपने इसे यह सर्वोत्तम सेवा समर्पित की।" यह सुन कर मनु ने पृषध्र को गुरु के चरणों में अर्पित किया।

वशिष्ठ जी के यहाँ गौओं का एक गोष्ठ था। जिसमें बहुत सी गौएँ रहती थी। अरण्य था, उसकी परिधि भी भली भाँति नहीं बँधी थी गुरु जी ने पृषध्र से कहा—"देखो, तुम बड़ी सावधानी से यहाँ रह कर गौओं की रक्षा करना। रात्रि में हिंसक जन्तु आ जाते हैं कोई जीव जन्तु आकर गौओं को कष्ट न दे।"

पृषध्र ने हाथ जोड़कर कहा—"गुरुदेव ! मैं बड़ी सावधानी से गौओं की रक्षा किया करूँगा।" इस बात से गुरु बड़े प्रसन्न हुए पृषध्र भी बड़ी सावधानी से रात्रि के समय वीरासन से बैठकर निरन्तर गौओं की रक्षा किया करता था। हिंसक जन्तु की आहट पाते ही वे चौककर खड़े हो जाते और उसे मार भगाते।

एक दिन भादों की अंधेरी रात्रि थी। बादल घिर आने से तारागण भी छिप गये थे, घोर अंधकार हो रहा था। उसी समय गौओं के झुण्ड में पीछे से एक व्याघ्र घुस आया। उसके भीतर आते ही गौओं में भगदड मच गई। गौएँ गोष्ठ में बाँधी तो जाती ही नहीं थी। खुली ही वे सो रही थीं। सहसा व्याघ्र के आ जाने से वे सब की सब जाग गईं। इधर से उधर घूमने लगीं। व्याघ्र उसमें से एक गौ को लेकर भागा। जब गौ व्याघ्र के द्वारा पकडी गई, तो वह बुरी तरह से डकराने और चिल्लाने लगी। उसके आर्त स्वर को सुनकर शीघ्रता से पृषध्र वहाँ आया।

वर्षा की अंधेरी रात्रि थी, बादल छाये हुए थे। छोटी छोटी बूँदें पड़ रही थी। अंधेरे में हाथ से हाथ दिखाई नहीं देता था गौ की आर्त वाणी सुनकर कुमार को इतना भी अवसर न मिला कि वह अग्नि जलाकर प्रकाश कर ले। तुरन्त हाथ में खड्ग लेकर वह गौ के आर्त स्वर को ही लक्ष्य बना कर दौड़ा। सहसा उसने गौ को ले जाते हुए सिंह को अनुमान से देखा। वही से उसने खड्ग चलाई। वह भूल से सिंह के शरीर में न लगकर गौ के कठ में लगी। गौ का सिर धड़ से पृथक हो गया। व्याघ्र का केवल एक कान कटा। वह गौ को छोड़कर कटे कान के स्थान से रक्त बहाता हुआ भाग गया। वह अग्नि-होत्र के उपयोगी कपिला गौ वहीं कटकर गिर पड़ी। कुमार ने समझा मैंने व्याघ्र को मार डाला।

कुछ काल में रात्रि समाप्त होने पर उसने जो कुछ देखा, उससे तो उसके दुःख का वारापार नहीं रहा—"हाय! व्याघ्र के भ्रम से भूल में मेरे से कपिला गौ को हत्या हो गई है अब

मैं गुरुदेव को मुँह कैसे दिखाऊँगा।" ये सब बातें सोचकर पृषध्र थरथर काँपने लगे।"

प्रातःकाल उनका मुख मलीन था। शरीर की कान्ति क्षीण हो गई थी। क्षात्रतेज उनको छोड़कर चला गया था। वे डरते डरते गुरु के समीप पहुँचे। उन्होंने स्पष्ट स्वर में इतना ही कहा—"गुरुदेव ! रात्रि में भूल से व्याघ्र के भ्रम से मेरे द्वारा कपिला गौ की हत्या हो गई है।"

गौ हत्या का शब्द सुनते ही भगवान् वशिष्ठ अत्यन्त ही कुपित हो गये और उस राजकुमार को शाप देते हुए बोले—"जान में हो या अनजान में, इच्छा से हो या अनिच्छा से, पाप तो पाप ही है। फिर गौ हत्या तो ऐसा भारी पाप है, कि प्रायश्चित्त तो प्राणों का अन्त ही कर देना है। अतः मैं तुझे शाप देता हूँ, कि इस निन्दित कर्म से तू नीच क्षत्रिय भी न रहे दस्यु शूद्र के समान तू हो जाय। क्षत्रियों से तेरा कोई सम्बन्ध ही न रहे।"

अपने कुलगुरु भगवान् वशिष्ठ के मुख से ऐसा शाप सुन कर कुमार दुखी नहीं हुए। उन्होने शाप को सहर्ष शिरोधार्य किया। अब उन्होंने सोचा—"क्षत्रियों मे तो मेरा सम्बन्ध होने का नहो यदि मैं अन्यत्र कहीं विवाह करता हूँ, तो मेरे वंशज सबके सब दस्यु म्लेच्छ कहलायेंगे। अतः अब मैं विवाह ही न करूँगा। आज से अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।

यह सोचकर श्रद्धा सहित गुरु चरणों में प्रणाम किया और मुनिव्रत धारण करके वह तीर्थाटन के लिये निकल पड़ा। उसने सभी प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया था। निःसंग और निर्मम होकर वह प्राणि मात्र में प्रभु को देखने लगा। समदर्शी होकर भक्ति भाव से परम विशुद्ध भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति भाव रखने लगा। वह उन सर्वात्मा श्रीहरि को ही अपना सर्वस्व समझकर अलक्षित गति से अवनि पर पर्यटन करने लगा। वह किसी से कोई वस्तु ग्रहण नहीं करता था, सदा इन्द्रियों को अपने वश में रखता, सुख दुख में सदा समान रहकर दैव वश जो भी आहार मिल जाता उसी से सन्तुष्ट होकर भगवान् का ध्यान करता रहता। लोगों के सम्मुख अपने को जड़ अन्धा, गूंगा, बहिरा तथा पागल प्रदर्शित करता। कोई खोटे वचन कहता तो उसका दुख न करता कोई उसकी प्रशंसा करता तो प्रसन्न न होता। किसी की न निन्दा करता न स्तुति। इस प्रकार पूर्णज्ञानी पुरुष की वृत्ति धारण करके वह बिना संकल्प के इधर से उधर पृथ्वी पर भ्रमण करने लगा।

अब उसे अपना जीवन भार प्रतीत होने लगा। गुरु के वचन याद आये। इस गौहत्या से कलुषित शरीर को धारण करने से क्या लाभ ?' यही सब सोचकर एक दिन वन में दावाग्नि लग गई थी उसी में स्वेच्छा से उसने अपने शरीर की आहुति दे दी। अग्नि में देह को जलाकर गौ हत्या के पाप का प्रायश्चित्त किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मनु पुत्र पृषध्र बिना विवाह किये ही इस असार संसार से चले गये। इनका वंश जब आगे चला ही नहीं तो उसका वर्णन क्या करूँ? अब आप वैवस्वत मनु के कवि, करूष आदि अन्य पुत्रों के वंश को श्रवण कीजिये।"

छप्पय

व्याघ्र न दीख्यो अंधकार महँ खड्ग चलायो।
भ्रमवश व्याघ्र न मरचो धेनु सिर काटि गिरायो॥
जानि दोष गुरु निकट जाय सब वृत्त सुनायो।
सुनि मुनि दीयो शाप क्षत्र त शूद्र बनायो॥
कीयो नहीं विवाह पुनि, जीवन भर हरि ही भज्यो।
वन दावानल महँ प्रविशि, अन्त समय महँ तनु तज्यो॥

कवि करूष आदि के वंशों का वर्णन

(५६६)

कविः कनीयान् विषयेषु निःस्पृहो-
विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषम्,
विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० २ अ० १५ श्लो०)

छप्पय

मनु सुत लघु सब माँहिं नाम कवि अतिशय त्यागी।
राज पाट परिवार त्यागि बनि गये विरागी ॥
जो करूप मनु पुत्र भये उत्तर के भूपति।
धृष्ट पुत्र तैं धार्ष्ट भये द्विज ताकी सन्तति ॥
मनु सुत नृग के सुमति सुत, भूत ज्योति तिन तैं भये।
नरिष्यन्त के वंशधर, आगे द्विज सब बनि गये ॥

कथा की परम्परा जोड़ने को सभी कथाओं में कुछ ऐसे

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वैवस्तव मनु के सबसे छोटे पुत्र कवि विषयों से निस्पृह था वह अपने भाइयों के साथ राज्य को त्याग कर वन को चला गया। वहाँ स्वयं प्रकाश भगवान् मे चित्त को लगाकर किशोरावस्था में ही परम पद को प्राप्त हो गया।

नीरस प्रसङ्गों का भी वर्णन करना पड़ता है, जिन्हें पाठक श्रद्धा के सहित नहीं पढ़तें उनके पढ़ने सुनने में चाहे रुचि न हो, किन्तु वे पुण्य प्रद तो हैं ही यदि वंश परम्परा न बताई जाय तो कथा का प्रसङ्ग अधूरा रह जाय शृंखला टूट जाय। इसी लिये पुण्य श्लोक पुरुषों की वंशीवली सुनने का भी बड़ा महत्व है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैं आपके सम्मुख भगवान् स्वायम्भुव मनु के सबसे ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन करूँगा, इससे पूर्व उनके छोटे ६ पुत्रों का अत्यन्त संक्षेप में वृत्त श्रवण कीजिये। उन नौ मे से पृषध्र की कथा तो मैं सुना ही चुका शेष ८ का भी सुनाता हूँ।

मनु के सबसे छोटे पुत्र कवि थे। कवि वास्तविक में कवि थे। उन्होंने ज्ञान दृष्टि से देख लिया। संसारी भोग नीरस हैं यद्यपि, कुछ काल के लिए सुखद से प्रतीत होते हैं, किन्तु परिणाम में दुखद ही हैं। इनमे सत्य बुद्धि करके रमण करना, गृहस्थी बन कर कच्चे बच्चों में फँसना, अपने आप को और जकड़ना है बन्धन को और कसना है। यही सब सोच समझकर वे राज-पाट, कुल परिवार बन्धु बांधवों तथा सभी सगे सम्बन्धियों को त्याग कर वन में चले गये। वहाँ अपने विशाल हृदय में ज्योतिस्वरूप स्वयं प्रकाश भगवान् वासुदेव को स्थापित करके किशोरावस्था मे ही परम पद को प्राप्त हो गये। वे सदा के किये उन परात्पर प्रभु में प्रवेश कर गये उनमें लीन हो गये।

नौ पुत्रों में से एक करूप भी थे। उनसे जो सन्तानें हुईं वे सब कारूप क्षत्रिय कहलाये। वे सब के सब पहाड़ो में चले गये

और उत्तरीय देशों के राजा हुये। चौथे एक मनु पुत्र धृष्ट थे। उनके वंशज धार्ष्ट नाम से विख्यात हो गये। आगे चल कर ये अपने शुभ कर्मों से ब्राह्मण भाव को प्राप्त हो गये।

पाँचवे नृग हुये। जो बड़े दानी और यशस्वी हुये, उनके पुत्र का नाम सुमिति, सुमिति के भूत ज्योति, उसके वसु उनके प्रतीक प्रतीक के ओघवान् ओघवान् के पुत्र का भी नाम ओघवान् हुआ उसके ओघवती कन्या हुई जिसका विवाह सुदर्शन के साथ हुआ।

छठे नरिष्यन्त का पुत्र चित्रसेन हुआ फिर क्रमश: वंशपरम्पराणत इतने राजा हुए। चित्रसेन, ऋक्ष मीढ़वान् कूर्चा, इन्द्रसेन, वीतिहोत्र सत्यश्रवा, उरुश्रवा, देवदत्त, देवदत्त के पुत्र अग्नि वेश्य हुए साक्षात् अग्निदेव के अवतार ही थे। जो आगे चल के कानीन या जातूकर्ण्य महर्षि नाम से विख्यात हुये इनके वंशज क्षत्रिय न होकर सभी अग्नि वेश्यायन गोत्र वाले ब्राह्मण कहलाये। अत: ये गोत्रस्थापक महान् ऋषि हुये।

मनु के सातवें पुत्र दिष्ट हुये उनके पुत्र नाभाग हुये। जो क्षत्रिय से अपने कर्मों द्वारा वैश्यता को प्राप्त हो गए। उनके पुत्र परम तेजस्वी महाराज भलन्दन हुए। राजर्षि भलन्दन बड़े ही तेजस्वी और शूरवीर हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा--"सूतजी! दिष्ट के पुत्र महाराज नाभाग किस कर्म के कारण क्षत्रिय से वैश्य हो गये। जब वे वैश्य ही हो गये तो फिर उनके पुत्र भलन्दन राजर्षि कैसे हुए। वैश्य के पुत्र को वैश्य ही होना चाहिये। यह हमें बड़ा सन्देह है। कृपा करके हमें इसका कारण बताइये और इस सम्बन्ध में जो कोई कथा हो सुनाइए।

यह सुनकर सूतजी गम्भीर हो गये और बोले—महाराज! मनुष्य का ऊपर से नीचे को पतन काम और क्रोध के ही कारण होता है। महाराज नाभाग की कथा बड़ी विचित्र है। मुनियो! ये नाभाग राजर्षि अम्बरीष के पिता नहीं हैं। ये तो दिष्ट के पुत्र दूसरे नाभाग हैं। मैं इनकी कथा को सुनाऊँगा, किस कारण ये क्षत्रिय से वैश्य हुये और फिर वैश्य होने पर भी इनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज भलन्दन शुद्ध क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त राजा हुए। आप इस शिक्षाप्रद कथानक को सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

दिष्ट पुत्र नाभाग कर्म तें वैश्य भये ते।
पुत्र भलन्दन भये क्षात्र कुल माँहि रहे ते॥
शौनक बोले सूत! कथा यह अति अचरजयुत।
कौन कर्म तें भये वैश्य नाभाग दिष्ट सुत॥
वैश्य पुत्रहू भलन्दन, पुनि क्षत्रिय कैसे भये।
पिता वैश्य नृप तें भये, गुप्त पुत्र नृप बनि गये॥

नाभाग चरित्र

(५६७)

नाभागो दिष्ट पुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः ।
भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥*
(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २ ३ श्लो०,

छप्पय

सुनि शौनक के वचन सूत हँसि बोले बानी ।
वैश्य सुता इक हती रूप यौवन की खानी ॥
दृष्टि परी नाभाग वैश्य तै कन्या माँगी ।
नृपति वैश्य अरु द्विजनि बात अति अनुचित लागी॥
बल पूर्वक कन्या हरी, पिता पुत्र को रन भयो ।
वैश्य बनायो मुनिनि सुत, भूप भलन्दन बनि गयो ॥

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही हो जाता है, यदि वह धर्म को छोड़ कर कामिनी का कामवश सेवन करता है, तो वह तद रूप बन जाता है उसी के गुणों वाला हो जाता है, यदि वह धर्म की रक्षा करते हुए अर्थ और काम का सेवन

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! दिष्ट का पुत्र नाभाग हुआ। जो अपने कर्म से क्षत्रिय होकर वैश्यता को प्राप्त हुआ। उसका पुत्र भलन्दर हुआ और भलन्दर का पुत्र वत्सप्रीति हुआ।

करता है, तो धर्म उसकी रक्षा करता है। जब मनुष्य काम के वश हो जाता है, तो अपनी पद प्रतिष्ठा सभी को खो बैठता है। शील संकोच, लज्जा तथा विनय आदि सद्गुण मनुष्यों में तभी तक रहते है, जब तक वे किसी के नयन धनुप से छोड़े कटाक्ष बाण द्वारा घायल न हुए हों। जब तक उनके चित्त को किसी ने चुरा न लिया हो। कामाधीन होकर पुरुष गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करके कुल परम्परा के विरुद्ध भी कार्य कर बैठता है, इसके वह स्थान भ्रष्ट होकर च्युत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैं आपको उस कथाको सुनाता हूँ, जिस कारण दृष्टि के पुत्र नाभाग क्षत्रिय से वैश्यता को प्राप्त हो गये और उनके पुत्र भलन्दन पुनः क्षत्रिय हो गये।"

मुनियो! सब अनर्थ की मूल यह युवावस्था है। यौवन के उठान में न जाने मनुष्य क्या-क्या अनर्थ कर डालता है। उस समय युवक और युवतियों को विवेक नही रहता। काम का प्रावल्य होने से वे मनमाना आचरण करने के लिये वाध्य हो जाते हैं। इसलिये इस अवस्था को गुरुजनों के अधीन रहकर बड़ी सावधानी से बितानी चाहिये। माता पिता अनुभवी होते है। वे युवावस्था को भोग चुके हैं, तज्जन्य अनर्थों से वे पूर्णतया परिचित हैं अपने पुत्र पुत्रियों के प्रति उनका ममत्व होता है वे सदा उसकी मङ्गल कामना करते हैं, अतः युवक और युवतियो का कल्याण इसी में है, कि वे अपने माता, पिता ज्येष्ठ भ्राता तथा अन्यान्य गुरुजनों का सम्मान करें उनकी आज्ञा का पालन करें उनकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति भर कोई कार्य न करें, ऐसा करने से वे अनेकों अनर्थों

से बच जायेंगे और अपनी पद प्रतिष्ठा तथा कुल परम्परागत सदाचार की भी भली भांति रक्षा कर सकेंगे। महाराज ! दृष्टि-पुत्र नाभाग ने जब युवावस्था में प्रवेश किया, तो भाग्यवश उनकी दृष्टि एक युवती वैश्य कन्या पर पड़ गई।

वह कन्या अत्यन्त ही सुन्दर थी। राजकुमार उसे देखते ही लट्टू हो गया अब तो उसके मनमें वही कन्या बस गई। पता लगाकर वह उसके पिता के पास पहुँचा और अत्यन्त ही विनय के साथ उसने कहा—"हे श्रेष्ठिवर ! आप अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या मुझे दे दीजिए। मैं उसके साथ धर्म पूर्वक विवाह करना चाहता हूँ।"

राजकुमार का ऐसा प्रस्ताव सुनकर वैश्य ने समझा यह धर्म भाव से नहीं काम भाव से प्रेरित होकर ऐसा प्रस्ताव कर रहा है। कामियों के वचनों का क्या विश्वास। काम के वेग में आकर वे शपथ पूर्वक जो चाहें प्रतिज्ञा करलें, किन्तु काम मद शिथिल होते ही वे सब कुछ भूल जाते हैं, अपने वचनो पर स्थिर नहीं रह सकते। अतः वह कन्या का पिता वैश्य उसे टालने के लिए बोले—"कुमार ! आपका यह प्रस्ताव आपके अनुरूप नही। आप राज पुत्र हैं। राजा स्वामी होता है वैश्य शूद्र आदि उसकी प्रजा होते हैं, आप शासक है, हम शासित आप स्वामी हैं हम भृत्य। विवाह तो समान कुल समान शील और समान वर्ण आदि में होता है आपका और हमारी क्या समानता आप किसी मूर्धाभिषिक्त राज पुत्री के साथ विवाह करें।

राजकुमार ने कहा—श्रेष्ठिवर ! आपका कथन तो सत्य

है, किन्तु जिसका मन जिससे मिल जाता है, जिसका मो
जिससे हो जाता है, वह असमान होने पर भी समान हो
करता है। इच्छा और आवश्यकता ही एकता स्थापित कर दें
हैं। मनकी अभिलाषा प्रतिकूलता में भी अनुकूलता का बीज
रोपण कर देती है। आप अपनी पुत्री मुझे दे दें। मैं उसे
से भी अधिक प्यार करूँगा।"

वैश्य ने कहा—"कुमार! आपका कहना सत्य है। आ
साथ अपनी कन्या का विवाह करना मेरे लिये गौरव की बा
है, किन्तु राजपुत्र! पुत्री का पिता होने के कारण मैं सहस
ऐसा साहस नहीं कर सकता। देखिये, आप अभी स्वतं
नहीं है, अपने पिता के अधीन हैं। मैं तो उनकी प्रजा ह
ठहरा। मैं भी ऐसा कोई सदाचार के विरुद्ध कार्य उन
आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकता। अतः आप पहिले राजा
आज्ञा ले लें। वे आज्ञा दे देंगे, तो मुझे इस सम्बन्ध मे
भी आपत्ति न होगी। मै अपनी कन्या को सहर्ष आप
दे दूँगा।"

कुमार ने विवशता के स्वर में कहा—श्रेष्ठिवर! पुत्र कितना
भी बड़ा हो गया हो, वह निर्लज्ज होकर पिता के सम्मुख गुरु
जनों के आगे ऐसी बातें स्पष्ट कैसे कह सकता है, कि मैं उसी के
साथ विवाह करूँगा। और सब बातें तो पूछी भी जा सकती हैं
किन्तु बड़ों के सम्मुख काम सम्बन्धी बातें तो मुख से निकालना
भी कठिन है। आप मेरी परीक्षा ले लें मुझे अपनी कन्या दे
नहीं तो मेरा यह शरीर न रहेगा।"

वैश्य ने कहा—"राजकुमार! मैंने आपसे पहिले ही क
दिया, देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं किन्तु पिता के रह

स्वेच्छा से मैं इस सदाचार विरुद्ध कार्य को नहीं कर सकता। आपका कहना भी सत्य है। स्वयं पुत्र का किसी कन्या का नाम निर्देश करके पिता से पाणिग्रहण का प्रस्ताव करना अनुचित है। आपके लिये यह लज्जा तथा, संकोच की बात अवश्य है, किन्तु मेरे लिये तो इसमें कोई लज्जा की बात नहीं कन्या का पिता दश जगह जाकर अपनी पुत्री के विवाह की बातें करता है, जिस भी सजातीय अविवाहित वर को देखता है उसी की ओर मन चलाता है। अतः आप अपने पिता से न पूछें, मैं स्वयं जाकर उनसे पूछूँगा। यदि वे आज्ञा दे देंगे, तो मुझे तो कोई आपत्ति है ही नहीं।"

नाभाग अब क्या कहते, वे चुप हो गये। वैश्य तुरन्त महाराज दिष्ट के समीप गये और हाथ जोड़कर बोले—"प्रभो! राजकुमार नाभाग ने मुझसे मेरी कन्या के लिये प्रस्ताव किया है, इसमें आपकी आज्ञा ही प्रमाण है। आप जैसी आज्ञा करें उसी का पालन करेंगे।"

यह सुन कर राजा बड़े धर्म संकट में पड़े। युवक पुत्र की इच्छा के विरुद्ध वे सहसा कैसे आज्ञा दें और कुल परम्परा के विरुद्ध एक नूतन प्रथा को भी वे सहसा कैसे चलावें। यही सब सोच कर उन्होंने धर्म के जानने वाले बहुत से वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाया और उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा।

सब सुनकर ऋचीक आदि ब्राह्मणों ने कहा—"कुमार! वर्णाश्रम धर्म की रक्षा आप राजा होकर भी न करेंगे, तो दूसरा कौन करेगा। पत्नी तो सदा अपने वर्ण की ही होती है। हाँ, आवश्यकतानुसार उपपत्नी अन्य-वर्णों की भी रखते है। प्रथम वर्ण में विवाह करके, फिर यदि और पत्नी

करने की इच्छा हो, तो धर्मपूर्वक अपने से नीचे वर्ण की कन्या के साथ भी विवाह किया जा सकता है। उस उप पत्नी का अधिकार यज्ञ मे दीक्षा लेने का नही है। जैसे ब्राह्मण की प्रधानपत्नी तो ब्राह्मणी ही होगी। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कन्यायें उसकी उपपत्नी हो सकती हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय की उपपत्नी वैश्य, शूद्रा और वैश्य की शूद्रा भी हो सकती है। उनसे जो सन्तानें होंगी वे उप वर्ण की होंगी अर्थात् पिता के वर्ण से छोटी और माता के वर्ण से बडी। जैसे ब्राह्मण की क्षत्रिया पत्नी से जो सन्तान होगी वह उप ब्राह्मण अर्थात् मूर्धाभिषिक्त जाति के होंगे। ऐसे ही क्षत्रिय से जो वैश्य पत्नी में सन्तान होगी वे उपक्षत्रिय होंगे। अपने वर्ण की पत्नी में जो सन्तान होगी वह अपने ही वर्ण की शुद्ध समझी जायगी। इसलिये हे राजकुमार ! तुम्हें उस वैश्य कन्या से विवाह करना ही है, तो पहिले किसी क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर लो। पीछे इसे भी उपपत्नी के रूप में ग्रहण कर सकते हो। ऐसा न करके तुम प्रथम ही इस वैश्य कन्या से विवाह कर लोगे, तो तुम भी उसी के वर्ण के हो जाओगे। तुम स्वयं भी विशुद्ध वैश्य बन जाओगे और तुम्हारी सन्तानें भी वैश्य ही कहलावेंगी। यह वर्णाश्रम धर्म का प्राचीन सदाचार है। धर्म के जानने वाले ऋषियों ने ऐसी ही व्यवस्था दी है। यदि ब्राह्मण प्रथम ही क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर ले, तो वह क्षत्रिय ही हो जाता है। केवल ऋषियों को छोड़ कर। आप क्षत्रिय धर्म को न छोड़ें। धर्मपूर्वक व्यवहार करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऋषियों ने कुमार नाभाग को अनेकों प्रकार से समझाया, किन्तु उन्होंने ऋषियों की बात

पर ध्यान नही दिया। उसने हाथ में खडग लेकर सबके सम्मुख ललकार कर कहा—"क्षत्रिय के लिये राक्षस विधि से कन्या का अपहरण करना भी शास्त्र सम्मत है। मैं अपने बाहु बल से इस कन्या का अपहरण करता हूँ, जिसमें सामर्थ्य हो, वह मुझे रोके।" यह कह कर वे अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर वैश्य के घर की ओर चले। कुमार बड़े बली थे, अस्त्र शस्त्रों के पूर्ण ज्ञाता थे, रण कौशल मे परम प्रवीण थे अतः उन्हे रोकने का किसी को साहस नही हुआ।

वैश्य ने जब देखा, कि कुमार तो मेरी कन्या को बलपूर्वक अपहहरण करने के लिये उतारू हैं, तो वह अपनी रक्षा के लिये राजा की शरण गया। राजा ने क्रोध में भर कर बहुत से सैनिको को भेजा, कि इस धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले राजकुमार को मार दो।" राजाज्ञा पाकर सैनिक कुमार नाभाग से युद्ध करने चले। किन्तु वह अस्त्र शस्त्रों में इतना निपुण था, कि सभी सैनिकोंको मार भगाया। जब राजाने देखा मेरे सैनिकों को तो नाभाग ने हरा दिया है, तब तो वे स्वयं अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने पुत्र का निग्रह करने चले। पिता पुत्र में घनघोर युद्ध होने लगा। सभी इस विचित्र युद्ध को उत्सुकता पूर्वक देखने लगे। पिता तो फिर पिता ही ठहरे वे अस्त्र शस्त्रों में पुत्र की अपेक्षा बढ़ चढ़कर सिद्ध हुए। नाभाग युद्ध में शिथिल होने लगे। इतने में ही सर्वत्र विचरण करने वाले बहुत से मुनि आकाश मार्ग से उतर कर राजा और कुमार के बीच में खड़े हो गये और बड़े ही मधुर स्वर से राजा से बोले—"राजन्! आपका पुत्र धर्मभ्रष्ट हो गया है। अब वह अपने कर्म से वैश्यता को प्राप्त हो चुका। महाराज! वैश्य के साथ क्षत्रिय का युद्ध करना धर्म संगत नहीं। अतः आप इससे युद्ध न करें।"

ऋषियों की बात सुनकर राजा युद्ध से निवृत्त हो गये। नाभाग ने भी उस परम सुन्दरी वैश्य कन्या के साथ विधि पूर्वक विवाह कर लिया। वैश्य कन्या नाभाग को पाकर परम प्रसन्न हुई। नाभाग ने भी अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपना वर्ण भी उसके ऊपर निछावर कर दिया। दोनों एक दूसरे को पाकर परम प्रसन्न हुए।

नाभाग कैसा भी सही, था तो राजपुत्र ही। विवाह के अनन्तर वह हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता के साथ अपने पिता के समीप पहुँचा और उन्हें प्रणाम करके विनीत भाव से बोला— "प्रभो ! मैं आपके अधीन हूँ, अब मेरा जो कर्तव्य हो, वह मुझे बताइये।"

पुत्र कैसा भी हो, अन्ततोगत्वा पुत्र ही है। उनकी तो इच्छा थी कि भलन्दर को कुछ राज्य मिले, किन्तु धर्म और प्रजा के विरुद्ध वे कैसे कर सकते थे। अतः कुमार नाभाग के सम्बन्ध में उन्होंने एक निर्णय समिति बना दी बाभ्रव्य मुनि उस निर्णय समिति के अध्यक्ष बनाये गये। यह समिति जो निर्णय कर दे, वही सबको स्वीकार है।"

समिति की बैठक हुई। सर्व सम्मति से सभी सभासदों ने यही निर्णय किया, कि कुमार ने वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, अतः वे भूपति होने के अधिकारी नहीं है। इन्हें राजा कुछ भूमि दे दें उसमे ये कृषि करें, पशु पालन करें और वाणिज्य व्यवसाय करके अपनी आजीविका चलावें आज से ये क्षत्रिय न रहकर वैश्य बन गये।"

कुमार ने समिति का निर्णय सहर्ष स्वीकार किया। वे

अब वे अपने को वैश्य ही कहने लगे और कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य करके ही अपना निर्वाह करने लगे। कुछ काल में उस वैश्य कन्या के गर्भ से एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम भलन्दर रखा गया। अन्त मे ये ही भलन्दर परम तेजस्वी राजर्षि भलन्दन हुए और पिता के वैश्य रहने पर भी ये राज्य सिंहासन के अधिकारी हुए।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! यही तो हम पूछना चाहते है—भलन्दन वैश्य पुत्र होकर फिर राजा कैसे हो गये ?"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, सुनिये महाराज ! मैं इस कथा को भी सुनाता हूँ। नाभाग के पुत्र भलन्दन परम तेजस्वी हुए। माता पिता ने उनके सभी वैश्योचित संस्कार कराये। जब भलन्दन बड़े हुए तो उन्हें अपने पिता के सब समाचार विदित हुए। उनके चाचा ताऊ के लड़के राज्योचित वस्त्राभूषण पहिन कर निकलते। सुन्दर सुन्दर किरीट मुकुट धारण करके अस्त्र शस्त्रों को लेकर घोड़े पर चढ़कर इधर से उधर घूमते। सभी उन्हे देखकर उठकर खड़े हो जाते। सभी प्रकार के राज्योचित सम्मान वे पाते। किन्तु भलन्दर वैश्यों की सी पगड़ी बांध कर इधर से उधर जाते। यह बात उन्हें बड़ी बुरी लगती। वे सोचते देखो, मैं भी राजपुत्र हूँ. पिता के कारण मैं राज्यवंश के प्रभुत्व से वञ्चित हो गया कैसे मैं फिर से राज्य सम्मान प्राप्त कर सकूँ।"

जब वे कुछ बड़े हुए, तो उनकी माता ने कहा—"बेटा ! वैश्योचित जो गोपाल का कार्य है उसे तू कर। जंगल में हमारी बहुत सी गौएँ हैं उनका जाकर तू पालन कर।"

माता की ऐसी आज्ञा पाकर भलन्दन माता को प्रणाम करके वन मे चला गया : उसे तो फिर से राज्य प्राप्त करने की चिन्ता थी अतः वह गौओं के गोष्ठ में न जाकर सीधा एक घोर वन मे चला गया। वहां पर परम प्रतापी राजर्षि नीप घोर तपस्या कर रहे थे। हिमालय के उस विस्तृत हरे प्रान्त में भलन्दन घूमता हुआ राजर्षि नीप के आश्रम पर चला गया। वहां पर उन्हे श्रद्धा सहित प्रणाम करके बैठ गया।

उस शान्त दान्त सुशील तेजस्वी बालक को देखकर राजर्षि नीप ने पूछा—"वत्स ! तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? तुम्हारे यहां आने का क्या प्रयोजन है ?"

भलन्दन ने कहा—"भगवन् ! मैं मनुपुत्र महाराज दिष्ट का पौत्र हूँ। मेरे पिता कर्मणा वैश्यता को प्राप्त हो गये है। मेरी माता ने मुझे गौपालन के लिये आज्ञा दी है। प्रभो ! मुझे यह वैश्य वृत्ति प्रिय नही। जिस प्रकार मेरे पितृव्य पृथ्वी का पालन करते है उसी प्रकार मैं भी पृथ्वी पालन करना चाहता हूँ। मैं आपकी शरण आया हूँ मुझे आप भूपिपति बना दीजिये।

उस बालक की ऐसी सरल, मधुर वीरता पूर्ण बातें सुनकर राजर्षि नीप को उस पर दया आ गई। उन्होने दिव्य दृष्टि से उसका भूत भविष्य सब जान लिया और बोले—"वत्स ! तुम मेरे आश्रम पर रहो, मैं समस्त धनुर्वेद पढ़ाकर भली भांति अस्त्र शस्त्रो की शिक्षा दूँगा।"

राजर्षि नीप के मुख से ऐसे वचन सुनकर भलन्दन की प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा, वे बड़ी श्रद्धा से अपने गुरु की सेवा करने लगे। महाराज नीप भी उसके शील स्वभाव से

संतुष्ट होकर उसे दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र सिखाने लगे। कुल काल में ही भलन्दन अस्त्र शस्त्रों में पारंगत हो गया। जब उसे राजर्षि नीप ने पूर्ण धनुर्वेद का ज्ञाता समझ लिया, तो वे उससे बोले—"वत्स ! अब तुम समर में अजेय हो गये हो, अब जाकर अपने ताऊ चाचा के लड़कों से अपने राज्य का भाग मांगो। यदि वे देने में आपत्ति करें, तो तुम उनसे धर्म पूर्वक युद्ध करना।"

अपने गुरु की ऐसी आज्ञा पाकर और उनके चरणों में प्रणाम करके भलन्दन अपने पितामह की राजधानी में आया और अपने चचेरे भाइयों से राज्य का भाग मांगा।"

इस पर उसके चचेरे भाइयों ने कहा—"जब तेरे बाप ही राज्य के अधिकारी नहीं रहे तो तू राज्य का अधिकारी कैसे हो सकता है। वैश्य का काम है खेती करना, गौ चराना और वाणिज्य व्यापार करना। हाथ में तराजू लेकर सामान बेचो राज्य तो पराक्रम से होता है। तुम वैश्य पुत्र हो अपना धर्म पालन करो।"

भलन्दन ने कहा—"यह पृथ्वी तो वीर भोग्या है। यदि क्षत्रिय है और उसमें बल पुरुषार्थ नहीं, तो वह राज्य का अधिकारी नहीं। जो स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं, वह प्रजा की भला क्या रक्षा करेगा। इसके विपरीत जिसके बाहुओं में बल है। प्रजा पालन करने की शक्ति है, वह चाहे जो हो वही अपने पुरुषार्थ से राजा बन सकता है। मैं तो राजपुत्र हूँ। यदि तुम वैसे न दोगे, मैं युद्ध करके तुमसे अपना भाग ले लूँगा।"

उसकी ऐसी वीरता पूर्ण बातें सुनकर सबके सब उससे युद्ध करने को उद्यत हो गये। दोनों ओर से भयंकर युद्ध हुआ। भलनन्द ने सभी को अपने बाहुबल से परास्त कर दिया और बल पूर्वक राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। अपने शत्रुओं को जीत कर भलनन्द अपने पिता के समीप पहुंचा। उन्हें श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम करके उसने नम्रता पूर्वक कहा—"पिताजी ! मैंने अपने पितृ पितामह के राज्य को आपके आशार्वाद से जीत लिया है। आप सुख पूर्वक राज्य सिंहासन पर विराजिये और धर्म पूर्वक समस्त प्रजा का पालन कीजिये।"

भलनन्द की माता वह वैश्य कन्या भी वहाँ बैठी थी, उसके सन्मुख ही अत्यंत प्यार से खिन्नमन होकर नाभाग ने कहा—"वत्स ! तुमने अपने बाहुबल से राज्य प्राप्त किया है, तुम ही राज्य करो, मैं राज्य सिंहासन पर नहीं बैठूँगा।"

अत्यन्त ही विनीत भाव से भलन्दन ने कहा—"प्रभो ! आप यह कैसी धर्म विरुद्ध बात कह रहे है। सर्व समर्थ शूरवीर पिता के रहते, जो पुत्र राज्य सिंहासन पर बैठता है, वह नरक गामी होता है। आपके रहते हुए मैं सिंहासन पर कैसे बैठ सकता हूँ।"

यह सुनकर अत्यन्त दुःख के साथ नाभाग ने कहा—"देखो, भैया ! राज्य परिषद ने मुझे राज्य का अनधिकारी सिद्ध कर दिया है, मैंने भी उस निर्णय को सह शिरोधार्य करके वैश्य वृत्ति को ग्रहण कर लिया है अब यदि मैं लोभ वश फिर राजा बन जाता हूँ, तो धर्म

च्युत हो जाता हूँ! यह राज, पाट, धन सम्पत्ति, स्त्री पुत्र आदि सब धर्म के ही लिये हैं। धर्म को छोड़ कर इनका कोई महत्व नही। पहिले ही मैंने एक बड़ा भारी अधर्म किया कि अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वैश्य कन्या के साथ विवाह किया। पिता के इस अप्रिय कार्य को करके मुझे अन्त में बहुत पश्चात्ताप हुआ। मैं सोचता हूँ, इस पाप के फलस्वरूप मुझे न जाने किस नरक में जाना पड़ेगा। काम के वशीभूत होकर जो भूल हो गई, सो हो गई, अब मैं फिर दूसरी बार राज्य ग्रहण करके पिता की आज्ञा का अपमान न करूँगा। अब यदि मैं निर्णय के विरुद्ध आचरण करता हूँ तो मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। अब तो वैश्य वृत्ति धारण की है। जीवन भर वैश्य बनकर ही अपना निर्वाह करूँगा।

भलन्दन ने कहा—"महाराज, फिर मैं भी राज्य कैसे कर सकता हूँ। अब हमें किसी ने राज्य दिया थोड़े है हमने अपने बाहुबल से उसे प्राप्त किया है। इसमें अधर्म की कोई बात नहीं।"

नाभाग ने कहा—"देखो एक तो मैं वैश्य हूँ, फिर मैं स्वाभिमानी भी हूँ। चाहे तुम हमारे पुत्र हो फिर भी दूसरों के जीते हुये राज्य पर अधिकार करना मेरी यह प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। मैंने वैश्य की कन्या से विवाह किया है अतः मैं राज्य नहीं कर सकता। तुमने स्वयं राज्य प्राप्त किया है तुम ही राजा बन जाओ। इसमें कोई दोष नहीं है।"

यह सुनकर हँसती हुई भलन्दन की माता वह वैश्य कन्या अपने पति से बोली—"महाराज! आप इस बच्चे की बात मान लें। राज्य सिंहासन पर बैठें। भ्रम त्याग दें। आपने वैश्य

कन्या से विवाह नहीं किया है। जिस प्रकार आप विशुद्ध वंश में उत्पन्न क्षत्रिय हैं उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध वंशोद्भवा क्षत्रियपुत्री हूं। प्रभो! यह कुमार भलंदन वैश्य पुत्र नहीं विशुद्ध क्षत्रिय पुत्र है।"

आश्चर्य के साथ नाभाग ने पूछा—"तुम क्षत्रिय पुत्री कैसे हो? वैश्य पिता ने तुम्हारा पालन क्यों किया? इस कथा को पहिले तुम मुझे सुनाओ तब मैं निर्णय करूँगा कि राज्य पर बैठूँ या नहीं।"

यह सुनकर नाभाग पत्नी सुप्रभा ने कहा—"अच्छी बात है सुनिये, मैं इस कथा को सुनाती हूं। प्राचीन काल में सुदेव नाम के एक राजा थे। उनका एक नल नाम का विषय लम्पट मित्र था। एक दिन वसन्त के समय महाराज सुदेव अपने मित्र नल के साथ अपनी स्त्रियों को लिये हुये आम्र वन में विहार के लिये गये! महाराज! वन विहार के समय स्वेच्छा से खाना, यथोचित पेयपदार्थों का पान करना, स्वच्छन्द होकर घूमना यही तो वहाँ का सुख है। समाज में शिष्टाचार से रहना पड़ता है सभ्यता से व्यवहार करना पड़ता है। समाज की दृष्टि से वर्ताव करना पड़ता है किन्तु एकान्त में अपने समवयस्क और संगी साथियों के साथ मनुष्य स्वच्छन्द हो जाता है। इसी प्रकार महाराज सुदेव वन में जाकर स्वच्छन्द हो गये रसोइयों ने पूर्व ही जाकर वहाँ नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ बना रखे थे। सब ने जाकर यथेष्ट वारुणी पान की सुन्दर सुन्दर भोजन किये। वैशाख का महीना था। सुन्दर स्वच्छ सलिल वाला सरोवर समीप ही था स्त्रियों के साथ राजा जल विहार करने लगे। उनका सखा नल बड़ा उद्दंड था। उसने

आज यथेष्ट वारुणी का पान किया था। वह अपने आपे में नहीं था। दैव योग से प्रारब्ध वश महर्षि च्यवन के पुत्र प्रमति की परम प्रिया पत्नी वहाँ पानी भरने के लिये आ गई। उनका जन्म कुलीन राजवंश में हुआ था। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से सौन्दर्य प्रकट हो रहा था। वल्कल वस्त्रों में से उसका सुवर्ण वर्ण छन-छन कर एक प्रकार की विचित्र शोभा को दशों दिशाओं में बखेर रहा था। वह प्रमति पत्नी पूर्ण युवती थी उसे देख कर मदिरा के मद में उन्मत्त नल उसकी ओर दौड़ा और उसे पीछे से पकड़ लिया नल के पकड़ते ही वह ऋषि पत्नी बड़े आर्त स्वर में चिल्लाई। उसकी आर्त वाणी सुनकर शीघ्रता से महर्षि प्रमति वहाँ दौड़े आये। उन्होंने आते ही देखा मदोन्मत्त नल उनकी प्राण-प्रिया को पकड़े हुए है; वह बेचारी कुररी पक्षी की भांति चिल्ला रही है। अपनी रक्षा के लिये पुकार रही है। पास ही महाराज सुदेव बैठे हुए हैं। सुदेव को नल का ऐसा व्यवहार रुचिकर नहीं था, न वे ऋषि पत्नी का अपमान करने में सहमत ही थे, किन्तु नल का वे इतना संकोच करते थे कि उन्हें मना करने का साहस नहीं हुआ। उसी समय प्रमति ने आकर राजा को डांटते हुए कहा—"राजन्! यह आपके लिए बड़ी लज्जा की बात है, कि आप पृथ्वी पाल होकर भी ऐसा अन्याय अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं और इस दुष्ट को मना नहीं करते, आप कैसे क्षत्रिय हैं?"

सम्मुख तेजस्वी मुनि को देखकर महाराज सुदेव सकपका गए और बोले—"ब्रह्मन्! मैं क्षत्रिय नहीं मैं तो बनिया हूँ। आप किसी अन्य क्षत्रिय के पास जायें, जो आप की रक्षा कर सके।"

ऋषि तो सब समझ ही रहे थे, कि राजा मुझसे झूठ बोल रहा है। अतः वे क्रोध से सूखी हँसी हँसकर बोले—"अच्छी बात है यदि आप अपने को वैश्य ही बताते हैं तो जाइये आज से आप वैश्य ही हुए। क्षत्रिय तो वही है जो दुःख से प्रजा की रक्षा करे। आपने दुष्ट से मेरी पत्नी की रक्षा नहीं की अतः आप क्षत्रिय धर्म से च्युत हो गये।"

सुप्रभा अपने पति नाभाग से कह रही है—"हे प्राणनाथ इस प्रकार राजा सुदेव को शाप देकर क्रुद्ध हुए प्रमति ने नल को शाप दिया कि "तू इसी क्षण भस्म हो जा।" सब के देखते-देखते नल के देह से अग्नि उत्पन्न हुई और वह वहीं का वहीं भस्म हो गया। मुनि के ऐसे प्रभाव को देखकर अब तो सुदेव चेतना शून्य से हो गये। उनकी सब चौकड़ी भूल गई। अत्यन्त दीन होकर वे भूमि में सिर टेक कर मुनि को बार-बार प्रणाम करने लगे और अत्यन्त ही नम्रता के साथ हाथ जोड़ कर बोले—"ब्रह्मन्! मैं इस समय अपने आपे में नहीं था। सुरा के मद में मैं कर्तव्य विहीन बन रहा था। आप ऐसी कृपा करें कि मेरा क्षत्रियत्व नष्ट न हो। आप अपने शाप को लौटा लें।"

मुनियों का क्रोध तो पानी की लकीर के समान होता है, नल के भस्म होते ही महामुनि प्रमति का क्रोध शान्त हो गया था, अतः वे सरलता के साथ बोले—"राजन्! मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला है, अतः मेरा शाप मिथ्या तो होगा नहीं आप वैश्य तो अवश्य हो जायँगे, किन्तु जब कोई क्षत्रिय आकर बलपूर्वक तुम्हारी कन्या को हर लेगा, तब तुम तो क्षत्रिय हो जाओगे और वह हरने वाला वैश्य जायगा।"

अपनी पत्नी के मुख से यह बात सुनकर नाभाग ने कहा—"तब फिर मेरा वैश्यत्व तो नष्ट नही हुआ। तुम्हारे पिता का शाप भले ही छूट जाय। तुम तो वैश्य पुत्री रही ही।

इस पर सुमति ने कहा—"नही, प्रभो! मैं वैश्य कन्या नही मैं भी अयोनिजा हूँ। प्राचीन काल में गंध मादन पर्वत पर सुरति नामक राजा थे। वे जहाँ तपस्या कर रहे थे, वहाँ एक श्येन पक्षी ने एक मैना को पकड़ लिया था। बाज की असावधानी से मूर्छित हुई मैना उसके मुख से गिर गई और वह राजर्षि सुरति के सम्मुख आ पड़ी। उस दु खिया सारिका को देखकर राजर्षि कृपा के वशीभूत होकर मूर्छित हो गये। सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उसी समय उनके अङ्ग से मेरी उत्पत्ति हो गई। कृपा से उत्पन्न होने के कारण मेरा नाम उन्होने कृपावती रख दिया। एक दिन मैं युवावस्था-पन्न होने पर अपनी सखियों के साथ घूम रही थी। मेरी किसी सखी ने अगस्त्य मुनि के भाई से 'वैश्य' कह दिया। इस पर उन्होंने मुझे शाप दे दिया। तू ही वैश्य पुत्री होजा।"

मैंने जब बहुत प्रार्थना की, तब उन्होंने कहा—"तू वैश्य पुत्री तो अवश्य होगी, किन्तु जब तू अपने वैश्य पुत्र को जाति का स्मरण करावेगी तब तू अपने पति के साथ पुनः क्षत्रिय हो जायगी।"

तब मैं इन वैश्य बने राजा की पुत्री बन कर रही। आपने मेरे साथ विवाह किया। अब हम और आप दोनों क्षत्रिय हो गये। अब आप राज्य सिंहासन पर बैठें प्रजा का पालन करें आपको कोई दोष न लगेगा।

इस पर नाभाग ने अपने पुत्र से स्त्री को सुनाते हुए

वत्सप्रीति प्रांशु आदि के चरित्र

(५६८)

वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतंप्रमतिं विदुः।
खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

वत्सप्रीति सुत भये, भलन्दन के उत्साही।
दानव हन्यो कुजृम्भ विदूरथ कन्या व्याही॥
मुदावती तें भये पुत्र बारह तेजस्वी।
ज्येष्ठ श्रेष्ठ नृप प्रांशु जगत महँ भये यशस्वी॥
भये प्रांशु के प्रमति सुत, उनके पुत्र खनित्र हैं।
अति पवित्र जग महँ विदित, तिनके चारु चरित्र है॥

वीरता के पुरस्कार में जो वस्तु प्राप्त होती है, उसका महत्व अत्यधिक होता है। वस्तुओं में न कुछ छोटापन है न बड़ापन। जिसके पीछे जितना ही अधिक परिश्रम वीरता का इतिहास है, वह वस्तु उतनी ही अधिक महत्व शालिनी है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भलन्दन पुत्रवत्स प्रीति के प्रांशु नामक पुत्र हुआ। प्रांशु का प्रमति प्रमति का खनित्र, खनित्र से चाक्षुष और चाक्षुष से विविंशति का जन्म हुआ।"

वस्तु तो सभी पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों की ही बनी हैं। किसी में किसी भूत की अधिकता है, किसी में किसी की। किन्तु जो वस्तु श्रम से प्राप्त है, दुर्लभ है, सब जिसे प्राप्त नहीं कर सकते उसका मूल्य अधिक है। विवाह तो बहुत होते हैं, किन्तु जिस विवाह में वीर्य का पण है, जो कन्या वीर्य पराक्रम दिखाकर प्राप्त की जाती है, उसका महत्व अन्य विवाहों से अत्यधिक है। जैसे सीताजी वीर्यपणा थीं जो शिवजी के धनुष को तान दे, वही सीताजी के साथ विवाह करले, कन्या के साथ विश्वविजयी होने की प्रतिष्ठा भी उसे प्राप्त होगी। इसीलिये यह विवाह अत्यधिक महत्वशाली समझा गया था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भलनन्दन के पुत्र परम तेजस्वी वत्सप्रीति हुए। वत्सप्रीति बड़े ही शूरवीर शत्रुविजयी और परम पराक्रमी थे। उन्होंने पाताल में जाकर कुजृम्भ नामक दैत्य का वध किया और भाग्यवती मुदावती के साथ विवाह किया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! यह कुजृम्भ नामक दानव कौन था ? वत्सप्रीति ने उसे किस प्रकार मारा। मुदावती कौन थी, उसका विवाह इन राजकुमार वत्सप्रीति के साथ कैसे हुआ, कृपा करके इन सब बातों को हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज ! मैं वत्सप्रीति का वृत्तांत सुनाता हूँ; आप सब दत्त-चित्त होकर श्रवण करें।"

पूर्वकाल में विदूरथ नाम के एक बड़े ही धर्मात्मा राजा हो गये है। वे अपनी प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। एक दिन

महाराज सिन्धु देश के एक सुन्दर सुडौल घोड़े पर सवार होकर वन में आखेट के लिये निकले। राजधानी से वह थोड़ी सी दूर गये होंगे, कि उन्हें एक बड़ा भारी बिल दिखाई दिया। राजा उस इतने बड़े अथाह गहरे बिल को देखकर परम विस्मित हुए। वे सोचने लगे—"मैं अनेकों बार इस मार्ग से आता जाता हूँ ऐसा अपूर्व बिल तो मैंने इसके पूर्व कभी देखा नही। यह साधारण बिल भी नही जान पड़ता। राजा इस प्रकार आश्चर्य चकित होकर उस बिल के सम्बन्ध में सोच ही रहे थे, कि उन्हें सामने से एक परम तेजस्वी तपस्वी मुनि जाते हुए दिखाई दिये। वे धर्मात्मा मुनि समीप के ही अरण्य में निवास करते थे। वे सुव्रत के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध थे।

महामुनि सुव्रत को सम्मुख से आते देखकर महाराज विदूरथ ने उन्हें भक्तिभाव से प्रणाम किया और घोड़े से उतर कर बड़ी नम्रता के साथ पूछा—"ब्रह्मन्! यह अभूतपूर्व बिल कैसे हो गया। किसने यह इतना भारी अथाह गर्त खन दिया। महाभाग! मैं तो समझता हूँ यह पाताल का द्वार ही है। इसके द्वारा तो कोई पाताल में भी जा सकता है।

यह सुनकर सुव्रत मुनि हँसे और बोले—"राजन्! तुम प्रजा के पालक होकर भी इतना नहीं जानते? फिर तुम कैसे प्रजा पालन कर सकते हो?"

लज्जित होकर राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! इसके पूर्व तो मैंने इस गर्त को कभी देखा नहीं था, मैं इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता अब आज्ञा कीजिये, मैं क्या करूँ! इस गर्त के द्वारा प्रजा का क्या अनिष्ट हो सकता है। आप जैसी सम्मति दें, उसके अनुसार ही मैं कार्य करूँ।"

यह सुनकर सुव्रत मुनि बोले—"रसातल में एक परम पराक्रमी कुजृम्भ नामक दानव रहता है। वही पृथिवी में स्थान-स्थान पर ऐसे छिद्र कर देता है?"

राजा ने पूछा—"भगवन्! उसे दानव का नाम कुजृम्भ कैसे पड़ा? वह पाताल से लेकर यहाँ तक ऐसे छिद्र कैसे कर देता है, कृपा करके इसे भी मुझे बता दीजिये।"

महामुनि सुव्रत ने कहा—"राजन्! उस दानव ने सुरों के शिल्पी विश्वकर्मा के बनाये हुए सुनन्द नामक मूसल को धोखे से प्राप्त कर लिया है। उस मूसल में ऐसी शक्ति है, कि वह जिस पर भी चला दे वही विदीर्ण हो जाता है। उसी से वह इस पृथिवी के पेट को फाड़ देता है, स्थान-स्थान पर बिल बना देता है। जिससे पातालवासी दैत्य दानव सुख पूर्वक आ जा सकते हैं। ऐसे विलो से निरन्तर जल निकलता रहता है। यदि वह दुष्ट ऐसा ही करता रहा तो यह पृथिवी जलमय बन जायगी। वह पृथिवी को जृम्भित अर्थात् छिद्रयुक्त कर देता है इसीलिये उस दुष्ट का नाम कु-अर्थात् पृथिवी को जृम्भित अर्थात् छिद्रयुक्त करने वाला कुजृम्भ पड़ गया है। महाराज! जब तक आप उस दुष्ट दानव का दलन न करेंगे, तब तक आप पूर्ण पृथिवी पति नहीं कहला सकते। आपका सर्वप्रथम कार्य यह है, कि उस दुष्ट को जैसे हो तैसे मारें।"

राजा ने विस्मय के साथ महामुनि सुव्रत से पूछा—"भगवन्! वह विश्वकर्मा विनिर्मित दिव्य अमोघ मूसल व्यर्थ कैसे हो, इसकी आप कोई युक्ति बताइये। जब तक उस दुष्ट पर वह मूसल है, तब तक तो उसे कोई परास्त कर ही नहीं सकता उस मूसल की शक्ति क्षीण कैसे हो?"

यह सुनकर सुव्रत मुनि बोले—"राजन् ! मैं तुम्हें एक ऐसी परम गुप्त रहस्यमयी बात बताता हूँ, जिसका पता औरों की तो बात ही क्या उस दुष्ट दानव कुजृम्भ को भी नहीं है। वह यह है, कि यदि कोई युवती स्त्री उस मूसल को अपनी सुख स्पर्श कोमल उँगलियों से छू दे तो वह मूसल उस दिन शक्तिहीन निर्बल बन जाता है, किन्तु दूसरे दिन फिर वह शक्ति नहीं रहती। दूसरे दिन फिर वह ज्यों का त्यों पूर्ववत् सबल बन जाता है। महाराज ! यदि आप उस दानव को न मारेंगे, तो अपने राज्यपाट से भी हाथ धो बैठेंगे। उसने तो आपको राजधानी के समीप ही यह उपद्रव आरम्भ कर दिया है।"

महाराज विदूरथ ने हाथ जोड़कर कहा—"ब्रह्मन् ! आपने बड़ी कृपा की जो मुझे सचेष्ट कर दिया। अब मैं उस दुष्ट दानव को मारने का प्रयत्न शीघ्रातिशीघ्र करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! राजा की ऐसी बात सुनकर तथा उनसे सत्कृत होकर महामुनि सुव्रत तो अपनी कुटी को चले गये और राजा कुजृम्भ के विषय में ही सोचते सोचते अपनी राजधानी में पहुँचे।

राजधानी में पहुँच कर राजा ने अपने मंत्रियों को तथा मुख्य मुख्य सेनापतियों को एकत्रित किया। यहां उन्होंने उस बिल की बात तथा सुव्रत मुनि के मुख से जो कुजृम्भ के मूसल की बात जैसे सुनी थी वैसी सब बताई, साथ ही यह भी बता दिया कि युवती स्त्री की उँगलियों से स्पर्श करने पर वह उस दिन व्यर्थ ही हो जाता है ?" उस दानव के ऐसे पराक्रम की

बात सुनकर सभी विस्मित हुए तथा उसे मारने के लिये उपाय सोचने लगे। ऐसे शूरवीर सैनिक तैयार किये जो पाताल में जाकर उस दुष्ट से युद्ध कर सकें।

इधर राजा तो ऐसी तैयारियाँ कर रहे थे उधर उस दानव कुजृम्भ ने एक और कुत्सित कार्य कर डाला। महाराज की मुदावती नामक रूपवती युवती कन्या एक दिन अपनी सखियों के सहित उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। इतने ही में वह दुष्ट कुजृम्भ आया और उसे हर कर पाताल में ले गया। अब तो मानों प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति पड़ गई हो। राजा ने अपने शूरवीर यशस्वी दोनों पुत्रों को बुलाया और उनसे बोला—"पुत्रों ! उस दुष्ट दानव ने मेरा घोर अपमान किया है तुम रसातल में जाकर उस पापी को उसके इस क्रूरकर्म का फल चखाओ और उस दुष्ट को मार कर अपनी बहिन को उससे छुड़ा लाओ।

पिता की आज्ञा पाकर उनके सुनीति और सुमति नामक दोनों पुत्र क्रोध में भर कर सैन्य सजाकर रसातल में गये। इन मनुष्यों को आते हुए देखकर कुजृम्भ दनाव बहुत हँसा वह अस्त्र शस्त्र लेकर उनसे लड़ने आया। यद्यपि ये दोनों राजकुमार बड़े बली थे। अस्त्र विद्या के विशारद थे, फिर भी उस दानव से पार न पा सके। उस मायावी दैत्य ने उन्हें माया से बांध लिया और सैनिकों को मार कर भगा दिया।

राजा विदूरथ ने जब यह समाचार सुना, तो उन्हें अत्यंत दुःख हुआ। स्वयं उनका बिल में जाने का साहस न हुआ। उन्होने घोषणा कर दी जो राजकुमार रसातल में जाकर उस

दुष्ट दानव को मार कर मेरे पुत्रों और पुत्री को छुड़ा लावेगा उसके साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा।

मुदावती अत्यन्त सुन्दरी युवती थी। बड़े बड़े राजकुमार उसे पत्नी बनाने को उत्सुक थे किन्तु कुजृम्भ की शूरता और माया की बात सुनकर किसी का उसके समीप युद्ध करने के निमित्त जाने को साहस नहीं होता था। तब महापराक्रमी भलन्दन पुत्र वत्सप्रीति अपने पिता के मित्र महाराज विदूरथ के समीप गया और जाकर बोला—"महाराज! आप अपने अनुचर को आज्ञा दें। मैं उस दुष्ट दानव कुजृम्भ को मारकर आपका प्रिय कार्य करना चाहता हूँ।

अपने मित्र भलन्दन के पुत्र वत्सप्रीति के ऐसे वीरता पूर्ण वचन सुनकर महाराज विदूरथ को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने वत्सप्रीति का प्रेम पूर्वक आलिंगन किया और सिर सूँघकर बड़े प्यार से बोले—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, भगवान् तुम्हे तुम्हारे कार्य में सफलता प्रदान करें, तुम जाकर उस दैत्य को मार कर मेरा प्रिय कार्य करो।"

महाराज की आज्ञा और आशीर्वाद पाकर वत्सप्रीति पाताल गया। वहाँ जाकर उसने अपने धनुष की टंकार की। एक मनुष्य को फिर युद्ध के लिये आया देखकर यह रणरंग दुर्मद दानव बड़ा ही प्रसन्न हुआ और अस्त्र शस्त्र लेकर सेना सहित राजकुमार वत्सप्रीति से युद्ध करने आया। कुमार ने उस दानव के साथ घनघोर युद्ध किया। तीन दिन, तीन रात्रि निरन्तर लोमहर्षण भीषण युद्ध होता रहा। वह दैत्य उस दिव्य मूसल को तभी निकालता था जब कोई प्रबल शत्रु आगे

अस्त्र शस्त्रों से न मारा जाय। उसने जब देखा कि यह राजकुमार तो बड़ा बली है, तो वह उस दिव्य मूसल को लेने अन्त:पुर में दौड़ा। कुमारी मुदावती वहीं पर उस दुष्ट ने कैद कर रक्खी थी। उसे जब पता चला कि मेरे उद्धार के लिये कुमार वत्सप्रीति युद्ध करने आये है और दानव तीन दिन, तीन रात्रि निरंतर युद्ध करके भी हरा नहीं सका है, तब तो उसके मन में आशा का संचार हुआ। उसने अपने घर पर ही कुमार वत्सप्रीति की प्रशंसा सुन रखी थी और मन ही मन उसके प्रति उसकी आत्मीयता भी हो गई थी। जब उसने देखा यह दानव तो उस राजकुमार को मारने के लिये दिव्य मूसल लेने आया है, तब तो उसे अपने पिता की कही हुई बात स्मरण हो आई। उसने दौड़कर उस मूसल को छू लिया। इतने में ही वह दैत्य भी आ पहुँचा। इसने प्रणाम करने के मिस से पुन: कई बार अपनी कमल की पतली पंखुड़ियों के समान लाल लाल उंगलियों से उस मूसल का स्पर्श किया।

वह दानव तो क्रोध में भरा ही हुआ था। अत: वह उस श्रद्धा से पूजित दिव्य मूसल को लेकर कुमार वत्सप्रीति की ओर दौड़ा, किन्तु आज वह दिव्य अस्त्र व्यर्थ हो रहा था। दैत्य ने समझा अब मेरी मृत्यु सन्निकट आ गई है फिर भी मरता क्या न करता उसने अन्य दिव्य अस्त्रों से युद्ध किया, किन्तु उसने उसके समस्त अस्त्र विफल बना दिये और अन्त में कुमार ने एक दिव्य आग्नेयास्त्र उसकी छाती को लक्ष्य करके छोड़ा। जिस दिव्य अस्त्र के प्रहार को दैत्य न सह सका। उसका हृदय फट गया और विशाल वट वृक्ष के समान कट कर वह धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। गिरते ही उसके प्राण पखेरू परलोक

को प्रयाण कर गये। उसके मरने से पाताल निवासी सभी नाग आदि प्रसन्न हुये। सभी ने कुमार वत्सप्रीति का अभिनन्दन किया। उन सबसे सत्कृत होकर कुमार चारु हासिनी कृशोदरी परम सुन्दरी मुदावती के निकट गया। उसे स्वयं बन्धन से निर्मुक्त किया। महाराज विदूरथ के दोनों पुत्र सुनीति और सुमति को भी उसके कारावस से निकाला। उन सबको संग लेकर कुमार वत्सप्रीति चलने लगे। नागों ने उसके ऊपर पुष्प वृष्टि की, शेषनाग ने उसे आशीर्वाद दिया। और कुजृम्भ के मारे जाने पर वह सुनन्द नामक मूसल नागराज भगवान् अनन्त ने ले लिया। उस मूसल की ही स्मृति मे राजकुमारी मुदावती का नाम शेष भगवान् ने सुनन्दा रख दिया।

इस बार कुजृम्भ को मारकर पाताल को जीतकर महाराज विदूरथ की पुत्री और पुत्रों को बन्धन से छुड़ाकर वत्सप्रीति मुदावती के पिता के निकट आये। चिरकाल अनन्तर अपनी पुत्री और पुत्रों को देखकर महाराज के नेत्र से अश्रु बहने लगे। उन्होंने वत्सप्रीति को अत्यन्त स्नेह पूर्वक छाती से लगाया और अत्यन्त ही प्रेमपूर्वक बोले—"बेटा तुमने मेरा अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया है। मैं इस अपनी सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री मुदावती को तुम्हें देता हूँ, तुम इसे [illegible] पूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का पालन करो।" महाराज की ऐसी बात सुनकर वत्स प्रीति ने सिर झुकाकर मौन भाषा में उनकी बात को स्वीकार किया। मुदावती का वैदिक विधि से वत्सप्रीति के साथ विवाह हो गया। सुनन्दा पतिरूप मे वत्सप्रीति को पा

परम प्रमुदित हुई और परमात्मा बुद्धि से उसकी परिचर्या करने लगी। कालान्तर में मुदावती के गर्भ से वत्सप्रीति के बारह पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम प्रांशु, प्रवीर, शूर, सुचक्र, विक्रम, क्रम, बल, बालक, चण्ड, प्रचण्ड, सुविक्रम और स्वरूप थे। इन सबमें प्रांशु ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। वे अवस्था में ही बड़े नहीं थे। अपितु गुणों और सहनशीलता में भी अद्वितीय थे।

सूतजी ने कहा—"महाराज! अपने पिता वत्सप्रीति के परलोक पधारने के अनन्तर बड़े होने के कारण प्रांशु राजा हुए। प्रांशु के पुत्र प्रमति वा प्रजाति बड़े यशस्वी पुत्र हुए। प्रमति के खनिज, शौरि, उदावसु, सुनय, और महारथ ये पाँच पुत्र हुए। इन सबमें खनिज बड़े थे, अतः नियमानुसार वे ही राजा हुए वे अपने क्षत्रियोचित पराक्रम के लिये विश्व-विख्यात थे। वे बड़े शान्त, सत्यवादी, शूरवीर समस्त प्राणियों के हित में निरन्तर रहने वाले, स्वधर्म परायण वृद्ध जन सेवी, शास्त्रज्ञ, वक्ता, विनयशील, समस्त अस्त्र शस्त्रों के ज्ञाता, सर्व-प्रिय तथा ब्राह्मण भक्त थे। वे कभी किसी से द्रोह नहीं करते थे। उनसे छोटे जो चार भाई थे, वे सेवकों की भाँति उनके अधीन रहते। महाराज खनित्र ने अपने चारों भाइयों को चारों दिशा के पृथक् पृथक् राज्यों पर अभिषिक्त कर दिया था और आप सम्पूर्ण वसुन्धरा का धर्मपूर्वक पालन करते थे। चारों भाइयों में से पूर्व में शौरि को, दक्षिण में उदवासु को पश्चिम में सुनयन को, और उत्तर में महारथ को अभिषिक्त किया था। वे अपने भाइयों से बड़ा स्नेह रखते थे। सब प्राणियों में भगवद्बुद्धि रखकर सभी के साथ समान व्यव-हार करते थे। इसीलिये ब्राह्मणों की छोड़ी हुई कृत्या उन पर निष्फल हुई।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! धर्मात्मा महाराज खनित्र के ऊपर ब्राह्मणों ने कृत्या क्यों छोड़ी ? और फिर अभिचार मंत्रों से भेजी हुई कृत्या राजा के ऊपर जाकर कैसे निष्फल हो गई कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! यह प्राणी अपने पापों से ही मारा जाता है, यदि हमारे मन में द्रोह न हो, तो दूसरे का द्रोह हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। महाराज खनित्र के चरित्र से यही सिद्ध होता है। मैं महाराज खनित्र के इस समत्व भाव पूर्ण वृत्तान्त को आपको सुनाता हूँ आप इसे समाहित चित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

नृप खनित्र, अति विनयशील सेवक वृद्धनि के।
शौरि, उदावसु, सुनय, महारथ, भ्राता उनि के॥
चारि दिशनि को राज दयो चारों भाइनि कूँ।
स्वयं बने सम्राट प्राण सम माने तिनिकूँ॥
शौरि सचिव ने द्रोह वश, बन्धुनि महँ विग्रह करी।
शौरि सिखायो बन्धु हति, हरहु राज्य जड़मति हरी॥

(५६६)

अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा
बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात्पुनः।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥*

(श्री भा० १० स्क० ७ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

शौरि लोभवश भयो दुष्ट मंत्री मतिमानी।
अन्य बन्धुहू फेरि, पुरोहित सब अज्ञानी॥
चारों मिलि अभिचार भयंकर मारण कीन्हों।
प्रकटी कृत्या चारि सबनि कूं दरशन दीन्हों॥
बोले—जाइ खनित्र कूँ, मारो प्रमुदित सब भईं।
लै त्रिशूल गर्जन करति, नृप खनित्र के ढिग गईं॥

विशुद्ध मन में किसी के दोष दिखाई देते ही नहीं वह तो सब में तीनों गुणों को वर्तते देखता है। हृदय में पाप होगा,

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यह कितने आश्चर्य की बात है, यह बालक राक्षस के द्वारा मृत्यु के मुख में जाते-जाते पुनः बच गया। जो

तभी दूसरा पापी दिखाई देगा। हृदयहीन हिंसक ही छिपकर दूसरे की हिंसा करेगा। शूरवीर तो शत्रु को सावधान करके समर में ललकारता है। असावधान पुरुष पर जो प्रहार करता है, वह पापी है, पाषाण हृदय है। पापी पर द्वेषी पर तो उसका प्रहार भले ही सफल हो जाय किन्तु निरपराध भगवद् भक्त पर उसका प्रहार कभी सफल न होगा। करने वाले का स्वयं नाश हो जायगा। जो समस्त भूतों में आत्म बुद्धि रखकर बर्ताव करता है, सबको अपना सुहृद समझता है। ऐसे सम बुद्धि पुरुष का जो अनिष्ट सोचता है, उसका स्वयं ही अनिष्ट हो जाता है। अतः श्रेयार्थी पुरुष को कभी किसी का मन से भी अनिष्ट न सोचना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे प्रमति पुत्र खनित्र के चरित्र का परम पावन प्रश्न पूछा है उसे मैं आपके सम्मुख कहता हूँ।

प्रमति के सबसे बड़े पुत्र खनित्र थे और शौरि, उदावसु सुनय और महारथ ये छोटे थे। बड़े होने के कारण खनित्र सम्राट हुए और चारों छोटे भाई उनके आधीन मन्डलेश्वर भूमिपति हुए। शौरि का एक बड़ा ही कुटिल कूटनीतिज्ञ विश्ववेद नाम का मन्त्री था। एक दिन उसने एकान्त में शौरि से कहा—"राजन्! आप राज पुत्र होकर भी खनित्र के आधीन क्यों रहते है?

मारना चाहता था, वह अपने आपसे स्वयं ही मारा गया। यह लोकोक्ति सत्य ही है, कि साधु पुरुष अपनी सत्यता के कारण भय से सदा बाल-बाल बच जाते हैं।

शौरि ने कहा—"मन्त्रिवर! ऐसा सदा से सदाचार ही चला आया है कि जो बड़ा भाई होता है वह सम्राट होता है, शेष सब भाई उसके आधीन रहते हैं। भाई खनित्र हम सब से ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है। हमें उनके अधीन रहना ही चाहिये।"

विश्ववेदी ने कहा—"देखिये, महाराज! जब अपने में बल सर्वत्र अधिकार का ही बोलबाला है, जिसके अधीन धन, संपत्ति तथा पृथिवी है उसका छोटे बड़े सभी आदर करते हैं। आप अपने बल पौरुष से पृथिवी के पूर्ण शासक बन बैठिये। किसी के अधीन रहने से तो मृत्यु ही श्रेष्ठ है। परतन्त्रता, दासता, अधीनता सबसे बड़ा अभिशाप है। अतः आप पराधीनता की बेड़ी को काट डालिये। स्वाधीन सम्राट बन जाइये।"

यह सुनकर शौरि ने कहा—"बड़ा भाई तो पिता के समान है। महाराज खनित्र तो हमें पुत्रों के समान प्यार दुलार करते है। व्यवहार में भी कुछ भेदभाव नहीं करते। उनसे युद्ध करना, उनके राज्य को छीनकर स्वयं सम्राट बन बैठना, यह तो न्याय के सदाचार के विरुद्ध है।"

यह सुनकर विश्ववेदी ने कहा—"राजन्! न्याय और धर्म की दुहाई तो निर्बल पुरुष ही दिया करते है। स्वयं तो उनमें शक्ति नहीं, बल नहीं। कोई उन पर अन्याय करता है, तो स्वयं उसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं होते, तब चिल्लाते हैं—"हमारे साथ अन्याय हो रहा है, यह अधर्म है, पाप है।" ऐसे निर्बलों की कौन सुनता है। परमात्मा भी उसकी रक्षा नहीं करता जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता। अतः राजन् इस न्याय धर्म के अड़ंगे को छोड़िये। राज्य में, अधिकार में, धन सम्पत्ति में, बड़े

छोटे का विचार नहीं। यह वसुन्धरा तो वीरभोग्या है. जिसकी बाहुओं में वल हो, वही शासक है वही राजा है। जिसके हाथ में लाठी है उसी की भैंस है। सो राजन्! हमारी बुद्धि से लाभ उठाइये। आप सम्राट बनकर इस लोक में भी आनन्द उड़ाइये और धर्म से बड़े-बड़े यज्ञ यागादि करके धर्म भी कमाइये, इस लोक में दिव्य सुखों का उपभोग कीजिये। रही भाई सेवा करने की बात, सो, जब धन हो जाय, तब यथेष्ट धन देकर भाई की पूजा भी कर लेना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लोभ बड़ी बुरी वस्तु है। धन सम्पत्ति तथा अधिकार आदि की तृष्णा मनुष्य के विवेक को खो देती है। स्वार्थ धर्म बुद्धि को नष्ट कर देता है। शौरि अपने क्रूर मंत्री की बातों में आ गया वह अपने बड़े भाई के राज्य को लेने के लिये विश्ववेदी के कथनानुसार कार्य करने लगा, उसके संकेत पर नाचने लगा।

जब उसने शौरि को अपनी मुट्ठी मे कर लिया, तब शेष तीन भाइयों के भी कान भरने आरम्भ कर दिये। उन्हे भी खनित्र के विरुद्ध भड़का दिया। महाराज खनित्र इतने प्रतापी थे कि प्रत्यक्ष तो उनके साथ किसी का युद्ध करने का साहस ही नहीं होता था। विश्ववेदी ने तन्त्र मन्त्र अभिचार पुरश्चरण का आश्रय ग्रहण किया। उसने चारों कुमारों के पुरोहितों से पुरश्चरण कराये। वे चारों पृथक-पृथक मारण प्रयोग करने लगे। उनके अभिचारिक कृत्य से चार बड़ी भयंकर तीक्ष्ण दाढ़ों वाली कृत्या उत्पन्न हुई। उन्होने पुरोहितों से पूछा—"हम क्या करे?"

पुरोहितों ने कहा—"तुम जाकर महाराज खनित्र को मार

डालो।" यह सुनकर वे कृत्यायें पृथक् पृथक् दिशाओं में खनित्र को मारने के लिये चली। महाराज धर्मात्मा थे समदर्शी थे; विष्णु भक्त थे, अतः कृत्याओं का उनके ऊपर जाने का साहस नहीं हुआ। आभिचारिक प्रयोगों का ऐसा नियम है कि जिसके ऊपर कृत्या छोड़ी जाती है, यदि वह किसी कारण से उसके पास न पहुँच सके तो उलट कर भेजने वाले को ही मार देती है। कृत्याओं का जब राजा के समीप जाने का साहस नहीं हुआ, तो वे लौटकर पुरोहितों के पास आईं और उन्हें मार डाला। तथा इस पुरश्चरण को कराने वाले शौरि के मंत्री विश्ववेदी को भी मार डाला।

महाराज खनित्र ने जब यह बात सुनी कि, एक ही समय भिन्न-भिन्न स्थानों में चारों पुरोहित मारे गये और उसी समय कुमार शौरि का मंत्री विश्ववेदी भी मारा गया, तो उन्हें परम विस्मय हुआ। दैव योग से उसी समय उनके कुल पुरोहित भगवान् वशिष्ठजी भी वहाँ आ पहुँचे। महाराज खनित्र ने पूछा—"भगवन्! यह कैसी अद्भुत घटना हुई, मेरे चारों भाइयों के पुरोहित और शौरि का मन्त्री विश्ववेदी ये सब अकस्मात् बैठे ही बैठे एक ही समय कैसे मारे गये?"

यह सुनकर भगवान् वशिष्ठ ने बताया—"राजन्! आप तो साधु प्रकृति के हैं। आप तो अजात शत्रु हैं। संसार में आप किसी को अपना शत्रु समझते ही नहीं। किन्तु महाराज! दुष्ट लोग साधु पुरुषों से अकारण द्वेष करते है, उनके ऐश्वर्य और प्रभाव को देखकर जलते हैं। स्वयं तो उनकी पदवी को पा नहीं सकते। अतः ईर्ष्यावश उनका अनिष्ट ही सोचते रहते हैं। शौरि के मन्त्री विश्ववेदी के कहने से ये चारो पुरोहित आपके उद्देश से मारण प्रयोग कर रहे थे। उसी से कृत्यायें

उत्पन्न होकर आपको मारने आई, किन्तु आप धर्मात्मा समदर्शी के सम्मुख उन तामसिक कृत्याओं का साहस नहीं हुआ, अतः उन्होंने उलट कर पाँचों को ही मार डाला।"

इतना सुनते ही महाराज खनित्र मूर्छित हो गये, वे वारंवार यही कहते—"मैं बड़ा नीच हूँ बड़ा पापी हूँ, मेरे कारण ब्राह्मणों की हत्या हुई।"

भगवान् वशिष्ठ ने कहा—"राजन्! इसमें आपका क्या अपराध है, उन्होंने जैसे पाप किया उसका फल उन्होंने भोगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! उन पुरोहितों ने तो अपने स्वामी का हित ही किया था, अतः वे पापी कैसे हो सकते हैं। पापी तो मैं हूँ, जो मेरे पीछे चार ब्राह्मणों की हत्या हुई। मेरे ऐसे राजा को धिक्कार है, मेरी धन सम्पत्ति और राज्य को धिक्कार है। अब मैं इस राज्य सिंहासन पर कभी न बैठूंगा।" ऐसा कहकर राजा ने अपने पुत्र चाक्षुप या क्षुप को बुलाकर गद्दी पर बैठाया और आप अपनी रानियों सहित वनमें जाकर घोर तपस्या करने लगा। सैकड़ों वर्ष तपस्या करके उसने अपने शरीर को सुखा दिया। अन्त में वे तनु त्याग कर अक्षय लोकों को गये। उनकी पत्नियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया और वे भी अपने पति के लोकों को ही प्राप्त हुईं।

महाराज चाक्षुप बड़े धर्मात्मा राजा हुए। उनका पुत्र विविंशति हुआ। यह विविंशति बड़ा ही शूरवीर, दानी और ब्राह्मण भक्त था। जब विविंशति राजा हुए तो प्रजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। इनके पुत्र रम्भ हुए और रंभ के खनीनेत्र। ये खनीनेत्र इतने धर्मात्मा और यज्ञ शील हुए कि निरन्तर यज्ञ ही करते रहते थे। ऐसा सुना जाता है, कि इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये। अपुत्री होने पर इन धर्मात्मा

राजा ने गौतमी तट पर पुत्र की कामना से घोर तपस्या की शतक्रतु देवे का स्तवन किया। जिससे प्रसन्न होकर बड़ा तेजस्वी धर्मात्मा पुत्र हुआ जो जगत् में करन्धम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप तो शीघ्रता कर गये। महाराज खनिनेत्र तथा उनके पुत्र करन्धम के चरित्र को हमें भली भाँति सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! ऐसे मैं सबके चरित्र को विस्तार से सुनाने लगूँ तब तो इन राजवंशों का ही पार न लगेगा। अतः मैं इनका चरित्र संक्षेप में सुनाकर फिर अवतार चरित्र सुनाऊँगा।

छप्पय

निरखि नृपति अति तेज डरीं, कृत्या घबराई।
नृपतनु परस्यो नहीं लौटि तिनही पै आई॥
[illegible]
॥
चाक्षुप पुत्र खनित्र के, चाक्षुप के सुत विविंशति।
रम्भ विविंशति के भये, तिनि खनि नेत्रहु भूमि पति॥

खनिनेत्र और करन्धम चरित्र

(६००)

विविंशति सुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः।
करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥*

(श्री भा० ६ स्क० २ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

कौन नृपति खनिनेत्र सरिस मख करै करावें।
कौन इन्द्र करि तुष्ट करन्धम सम सुत पावें॥
शत्रु सैन्य करि दाह करन्धम भूप कहाये।
वीर्यचन्द्र नृप सुता स्वयम्वर तें वर लाये॥
पुत्र अवीक्षित सुता के, गर्भ माँहि पैदा भये।
सूर्यवंश महँ एक तें, एक ख्याति नृप ह्वै गये॥

यह शरीर नश्वर हैं, उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है, ८४ लाख योनियाँ वतलाई जाती हैं नित्य प्रति सभी योनियों कितने प्राणी जन्म लेते है, कितने मरते हैं। जो शरीर पं

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विविंशति का पुत्र हुआ, रम्भ का धार्मिक पुत्र खनिनेत्र हुआ। उन महाराज खनिनेत्र पुत्र करन्धम हुए।"

हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है किन्तु शरीर न रहने पर भी जिनकी कीर्ति संसार में उनके पश्चात् भी गाई जाती है, जिनके पुण्यश्लोक चरित्र प्रेम पूर्वक पढ़े या सुने जाते हैं, वे ही सुकृति धन्य हैं। सुयश ही उनका शरीर है, उस शरीर से वे सदा अजर अमर हो जाते हैं। जो धन धर्म में व्यय होता है वही धन यथार्थ धन है वही यश को फैलाता है नहीं तो कितना भी सुवर्ण जोड़ो, कितनी भी चांदी एकत्रित करो, कितने भी भवन बनाओ ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है, उस कृपण को कोई मानता नहीं, जानता नहीं। जिनके चरित्रों को आज हम पढ़ते है, पढ़ कर रोते है, हँसते है, उत्साहित होते हैं, उनमें से एक गुण भी हमारे जीवन में आ जाय, तो हमारा पढ़ना सार्थक है नहीं तो केवल व्यसन मात्र ही है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! आपने मुझसे विविंशति पौत्र खनिनेत्र का चरित्र पूछा था। ये राजा अपने यश से इतने विख्यात हैं कि इनके समय मे ही सभाओं में जाकर गन्धर्व इनका यश गाया करते थे। सब पुरुषों की सभाओं में इनके सम्बन्ध की गाथायें प्रसिद्ध थीं। गन्धर्व सब को सुनाकर इस आशय के गीत गाया करते थे। महाराज खनिनेत्र के समान दूसरा राजा इस पृथिवी पर नहीं होगा, क्योंकि उन्होंने दशसहस्र यज्ञ पूर्ण करके यह समस्त वसुन्धरा दान दे दी थी। पीछे तपस्या के बल से द्रव्य एकत्रित करके इसे फिर से मूल्य देकर छुड़ाया था।" मैं पहिले ही बता चुका हूँ इन्होंने सरसठ हजार सरसठ सौ सरसठ यज्ञ किये थे। जिन यज्ञों में इन्होंने वित्तशाठ्य न करके ब्राह्मणों तथा अन्य याचकों को इच्छानुसार यथेष्ट द्रव्य दिया था। इसीलिये संसार में

इनकी कीर्ति आजतक अजर अमर बनी हुई है। ये यश शरीर से अभी तक ज्यों के त्यों विद्यमान है।

इन महाराज खनिनेत्र के कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये ये कुछ चिन्तित रहते थे कि मेरे पश्चात् पितरों का पिंड तर्पण कौन करेगा। अंत में इन्होंने पुत्र प्राप्ति के लिये तप करने का निश्चय किया। ये पापनाशिनी गोमती गंगा के तट पर जाकर पुत्र की कामना से इन्द्र का स्तवन करने लगे।

इनकी तपस्या और स्तुति से संतुष्ट होकर सुरेश्वर शतक्रतु इनके सम्मुख प्रकट हुए और हँसते हुए महाराज खनिनेत्र से बोले—"राजन्! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझसे जो भी चाहो, वरदान माँगलो।"

यह सुनकर नम्रता से सिर नीचा करके, बार बार देवेन्द्र को प्रणाम करके विनय पूर्वक महाराज बोले—"हे देवेन्द्र! यदि आप मुझपर प्रसन्न है तो मुझे एक सर्वगुण सम्पन्न वंशधर पुत्र दीजिये। जिसकी धर्म में मति हो और धर्मपूर्वक प्रजा का पुत्र की भाँति पालन कर सके।"

इन्द्र ने यह सुनकर कहा—"राजन्! ऐसा ही होगा। आप के समस्त शास्त्रों का ज्ञाता अक्षय ऐश्वर्य से युक्त धर्मज्ञ सर्वश्रेष्ठ सत्यवादी, धर्मात्मा पुत्र होगा।" इतना कहकर शतक्रतु भगवान् इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा भी अपने मनोरथ को पूर्ण हुआ समझकर वन से पुनः अपनी रजधानी में लौट आये। समस्त प्रजा के जनों ने वन से लौटे हुये महारज का उन्मुक्त हृदय से स्वागत कीया और उन्हें कृतकार्य हुआ समझ कर हृदय से उनका अभिनन्दन किया।

कुछ काल के अनन्तर देवेन्द्र की कृपा और वर के प्रभाव से उनकी सौभाग्यवती राजमहिषी ने एक पुत्र रत्न को

उत्पन्न किया । राजा इस समाचार से परम प्रसन्न हुये । वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्र के विधिवत् जाति कर्म आदि संस्कार कराये । पिता ने उसका नाम बलाश्व रक्खा । कालान्तर में महाराज खनिनेत्र परलोकगामी हुए । तब प्रजा के समस्त पुरुषों ने राजकुमार बलाश्व को राजगद्दी पर विठाया । ये भी अपने पिता पितामह आदि के समान समस्त प्रजा का पिता के समान पालन करने लगे । महाराज अपने अद्भुत आश्चर्यजनक अलौकिक कर्म द्वारा ही बलाश्व से करन्धम कहलाये ।"

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! महाराज बलाश्व ने ऐसा कौन सा अद्भुत कार्य किया, जिससे इनका नाम करन्धम पड़ा ? इस कथा को कृपा करके हमें अवश्य सुनाइये ।"

सूतजी बोले—"महाराज ! ये खनिनेत्र के पुत्र महाराज बलाश्व भी अपने पिता के ही समान धर्मात्मा और दानी थे । ये निरन्तर दान ही देते रहते थे । इस कारण इनका राज कोष रिक्त प्रायः हो गया था । उसमें अधिक धन नहीं था, किन्तु इनका धर्म का कोष अक्षय था । धन की कमी होने से इनके पास सेना भी अल्प ही संख्या में रह गई थी । इसलिये धन बल तथा सैनिक बल दोनों की ही कमी थी ।

जिन राजाओं को बलाश्व ने अपने बाहु बल से प्रथम जीत लिया था, वे अब सभी बहुत बली बन गये थे । सबके समीप समर की सभी सामग्रियाँ यथेष्ट थीं । बहुत साधन सम्पन्न बली राजाओं ने एकत्रित होकर राजा बलाश्व को निर्बल समझ कर उन पर चढ़ाई कर दी और उसकी राजधानी को चारों ओर से

दृढता पूर्वक घेर लिया। अब तो राजा को बड़ी चिन्ता हुई। इतने राजाओं की विशाल सेना के साथ उनकी स्वल्प सेना कैसे युद्ध कर सकती है, युद्ध सम्बन्धी साधन भी पर्याप्त नहीं थे। शत्रु सेना वाले राजधानी मे प्रवेश करके उसे लूटने के लिये समुत्सुक हो रहे थे। यह देखकर महाराज बलाश्व बड़े सङ्कट में पड़े। उन्हें और कुछ उपाय नही सूझा। अपने हाथो को मुख के सम्मुख करके धर्म स्मरण करते हुए मुख की वायु से उसे धमन किया अर्थात् फूंका। जब वह वायु उगलियों के छिद्रों से बाहर निकली, तो उससे बहुत से अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित सैनिक निकल पड़े अर्थात् उनकी धर्ममयी वाणी में ऐसा बल था कि मुख पर हाथ रख कर ज्यों ही उन्होने कहा त्यों ही परपक्ष के सैनिक उनके पक्ष के बन गये। अब तो राजा बड़े उत्साह के साथ युद्ध करने लगे। कुछ ही क्षणों में शत्रुओं की समस्त सेना को उन्होंने मार भगाया और वे समर में विजयी हुए।

संसार में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कि जो सावधानी के साथ धर्म की रक्षा करता है। तो समय आने पर स्वयं धर्म भी उसकी रक्षा किया करता है। इस विपत्ति काल में धर्म ने ही उसकी रक्षा की, धर्म ने ही उन्हें सैनिक बल प्रदान किया। अपने करों—हाथों—को धमन-फूंकने से वे महाराज करन्धम कहलाये।

महाराज करन्धम जैसे ही शूरवीर दानी और धर्मात्मा थे, वैसे ही सुन्दर भी थे। वे सुन्दरता में सर्वत्र विख्यात थे। उन्हीं दिनों एक वीर्यचन्द्र नामक बड़े प्रतापशाली राजा राज्य करते थे। उनकी एक वीरा नाम वाली सुन्दरी कन्या थी। वह इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि राजा को उसके अनुरूप कोई वर

खोजने पर भी न मिला तब राजा ने उसका स्वयम्वर करने का निश्चय किया।

देश विदेश से सहस्रों राजकुमार उस सुन्दरी राजकुमार के रूप लावण्य की प्रशंसा सुन सुनकर महाराज वीर्यचन्द्र की राजधानी में आने लगे। नियत समय पर स्वयंवर की सभा लगी। कुमारी वीरा हाथ में जयमाला लिये अपनी सखियों से घिरकर अपने अनुरूप पति खोजने निकली। इन समस्त आगत राजकुमारों में से उसने अपने अनुरूप महाराज करन्धम को ही चुना। उन्हीं के कंठ में उसने कम्पितकरों से जयमाला पहिना दी। जिससे अन्य सभी राजकुमार हताश होकर अपने अपने घर को चले गये।

महाराज करन्धम स्वयंवर में सुन्दरी वीरा को पाकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने शास्त्रीय विधि से वीरा के साथ विवाह किया और राजधानी लाकर उसके साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे। राजा ने वीरा के साथ अनेक यज्ञ किये सभी वस्तुओं के दान दिये, याचकों को इच्छित वस्तु प्रदान करके सन्तुष्ट किया और प्रजा का पुत्रवत पालन किया। वीरा के गर्भ से उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जिसका नाम महाराज ने अवीक्षित रखा।

ये अवीक्षित बड़े ही यशस्वी और दृढ़ प्रतिज्ञ हुए हैं। इन्होंने शत्रुओं से पराजित होने के कारण विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु अंत में धर्म संकट में पड़कर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतने यशस्वी धर्मात्मा करन्धम के पुत्र अवीक्षित ने ऐसी घोर प्रतिज्ञा क्यों की और अंत में किस कारण से उन्हें अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी

पड़ी। इस कथा को आप उचित समझें तो हमें अवश्य सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"भगवान्! यह कथा अत्यन्त ही मनोरञ्जक है। इस अवीक्षित् की अद्भुत कथा को मैं आपको सुनाता हूँ। आप सब सावधान होकर इसे श्रवण करें।"

छप्पय

भयो करन्धम पुत्र नृपति दैवज्ञ बुलावें।
सप्तम गुरु अरु शुक्र चन्द्र चौथे बतलावें॥
सूर्य शनैश्चर सौम अवीक्षित् है यह बालक।
पारंगत परमार्थ पूर्ण पृथिवी को पालक॥
ग्रह फल सुनि नृप मुदित मन, विप्रनि को आदर करचो।
रवि शनि मंगल तें अलख, नाम अवीक्षित् नृप धरचो॥

करन्धम सुत अवीक्षित की कथा

(६०१)

तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत्।
संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरः सुतः॥

(श्री भा० ६ स्क० २ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

भये अवीक्षित् युवक करन्धम के सुत प्यारे।
वैदिश नृप की सुता स्वयंवर माँहि सिधारे॥
कन्या लै जयमाल कुमर के ढिग जब आई।
बलपूर्वक सो पकरि अवीक्षित् रथ बैठाई॥
सब नृप मिलि पकरे कुमर, आइ छुड़ाये पिता जब।
कन्या दई विशाल ने, नहिँ स्वीकारी कुमर तब॥

यह जीवन एक प्रकार का सतत संग्राम है। इसमें कभी जय है कभी पराजय। घोड़े से वही गिरेगा जो घोड़े पर

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन महाराज करन्धम के अवीक्षित् नामक पुत्र हुए। अवीक्षित् के पुत्र चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुए जिनको अङ्गिरा के पुत्र महायोगी संवर्तने यज्ञ कराया था।"

चढ़ेगा। जो कभी घोड़े पर चढ़ता ही नहीं उनके गिरने का प्रश्न ही नहीं। जो पृथिवी से ऊँचे पलंग या तखत पर सो रहा है उसी के गिरने की संभावना है, जो पृथिवी पर ही सोता है, वह और नीचे कहाँ गिरेगा। जीवन में कभी-कभी ऐसे धर्म संकट के अवसर आते हैं, कि जिन कामों को हम कदापि करना नहीं चाहते, प्रारब्ध वश वे हमे हठ पूर्वक करने पड़ते हैं। कैसी यह विधि की विडम्बना है। जहाँ एक समान दो विरोधी धर्म आ जाते है और उनमें हम निर्णय नही कर सकते कौन सा कार्य करने से हम धर्मच्युत न होंगे ऐसे अवसर को धर्म संकट कहते हैं। धर्म-संकट में दो प्रतिकूल प्रतिज्ञाओं में बलाबल देखना पड़ता है। कर्तव्य बुद्धि से किसे करने से अधिक धर्म सुरक्षित रह सकेगा। जिस ओर का पलड़ा भारी होता है उधर ही नवना पड़ता है, उसे ही स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे ही अवसर पर धर्म की परीक्षा होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चक्रवर्ती महाराज करन्धम के पुत्र अवीक्षित् बड़े ही शूरवीर, वेद वेदांगों में पारंगत तथा दृढ़ प्रतिज्ञ हुए। उन्होने धनुर्वेद की शिक्षा कण्व मुनि के पुत्र से प्राप्त की थी। उनके सद्गुणों की, अनुपम सौन्दर्य की सर्वत्र ख्याति थी। वे विनयी, शूर, ब्राह्मण भक्त और सदाचारी थे। महाराज करन्धम ऐसे पुत्र को पाकर परम प्रसन्न थे। वे अब अपने युवक पुत्र को पुत्र वधूके साथ देखने को समुत्सुक थे। बहुत से राजाओं ने अपनी पुत्रियों से कुमार अवीक्षित् का विवाह करना चाहा, किन्तु कुमार ने इसे स्वीकार नही किया।

उन्ही दिनों वैदिश के राजा विशाल की वैशालिनी कन्या का स्वयम्वर हुआ। वैशालिनी के सौन्दर्य की सर्वत्र ख्याति थी। उन दिनों प्रायः ऐसी ही कन्या का स्वयम्वर होता था, जो

सौन्दर्य में अनुपम समझी जाती थी। वैशालिनी ने कुमार अवीक्षित् की शूर वीरता और दृढ़ता की चिरकाल से ख्याति सुन रखी थी। उसके गुणों को सुनते-सुनते उसके मन में अति अनुराग हो गया था। इधर अवीक्षित भी वैशालिनी से ही विवाह करना चाहते थे। स्वयम्वर का समाचार सुनकर कुमार अवीक्षित् सजवज कर उसे प्राप्त करने की इच्छा से महाराज विशाल की नगरी में पहुँचा। महाराज ने आगत सभी राजकुमारों का अत्यन्त सम्मान के साथ स्वागत सत्कार किया।

जिस दिन स्वयम्वर का दिन निश्चित था। उस दिन राजधानी में बड़ी चहल पहल थी। बड़े बड़े राजकुमार यौवन के मद में मदमाते, भाँति भाँति के वस्त्र भूषणों से सुसज्जित होकर उस कन्या को पाने की अभिलाषा से आये थे। कन्या एक थी, उसे पाने की इच्छा करने वाले राजकुमार अनेक थे। सभी चाहते थे कन्या हमें मिले। सभी को आशा थी कन्या हमारे ही कंठ में जयमाला डालेगी, हमें ही अपना पति वरण करेगी। ऐसी आशा न होती तो वे सब इतनी दूर आते ही क्यों। कुमार अवीक्षित् को तो पूर्ण विश्वास था वैशालिनी मुझे ही वरण करेगी।

नियत तिथि आ गई। स्वयम्वर की सभा सजाई गई। नव वधू के समान उसे शिल्पियों ने सावधानी से सुसज्जित किया था। सहस्रों सुवर्णमय सिंहासन बिछाये गये थे। उन पर आगत राजकुमारों के क्रम पूर्वक नाम अङ्कित थे। सभी अपने-अपने निर्दिष्ट आसनों पर सजबज कर आ बैठे। चारों ओर सशस्त्र रक्षक पहरा दे रहे थे और जान पद लोग पृथक्-पृथक् मंचों पर बड़ी उत्सुकता से बैठे थे। स्त्रियों को बड़ा कुतूहल था, कुमारी किसे वरण करेगी। किसका भाग्य आज उदय

होगा, कौन इस स्वयम्वर समर में सर्वश्रेष्ठ विजयी समझा जायगा, किसके कंठ में कुमारी कम्पित करों से कमल की कमनीया माला को मेलेगी। कौन उसे पत्नी पाकर अपने भाग्य को भूरि भूरि सराहेगा।

उपस्थित राजकुमार बार - बार कनखियों से अन्तःपुर की ओर निहार रहे थे, कि वह त्रैलोक्य सुन्दरी सुकुमारी कब आवेगी। इतने में ही नूपुरों की ध्वनि और चुरियों की झंकार से सभी का ध्यान उसी ओर आकर्षित हो गया। सभी ने उत्सुकता के साथ देखा हाथ मे जयमाला लिये हुए पूर्ण चन्द्र के समान अपने मुख की कान्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई सखियों से घिरी राजकुमारी आ रही है। सबकी दृष्टियाँ उसी ओर केन्द्रित हो गईं। हंसिनी के समान अपने कोमल पैरों से वह शनैः शनैः सभा की ओर आ रही थी। एक परिचय कराने वाली राजकुमारों के नाम गोत्र बताती जाती थी। कुमारी सुनती एक बार उसकी ओर देखती और फिर आगे बढ़ जाती। जिसके आगे से बढ़ जाती उसके लिये संसार शून्य हो जाता। निराशा और लज्जा के कारण उसका मुख म्लान हो जाता। कोई तो चुपके से उठ जाते कोई निरलज्ज की भाँति सूखी हँसी हँसते कुछ व्यंग वचन बोलते हुए परिणाम की प्रतीक्षा मे बैठे रहते। इस प्रकार अनेक राजकुमारों को निराशित तथा अपमानित करती हुई वह राजकन्या कुमार अवीक्षित् के निकट पहुँची। उसका परिचय पाकर उसने अनुराग भरित हृदय से भली भाँति कुमार को निहारा, हृदय ने हृदय को पहचाना, किन्तु परिचय के लोभ से या कुमार की उत्सुकता बढ़ाने को अथवा उसकी वीरता की परीक्षा करने के निमित्त कुमारी वैशालिनी ने कुमार के कण्ठ में जयमाला नहीं डाली वह आगे

बढ़ गई। कुमार ने इसे अपना घोर अपमान समझा। भरी सभा में सबके देखते - देखते वे आगे अपने सिंहासन से उठे और आगे बढ़कर राजकुमारी का हाथ पकड़ लिया और सबके देखते-देखते उसे पकड कर अपने रथ पर बिठा लिया और बोले—"मैं अपने पुरुषार्थ से इस कन्या को हर कर ले जाता हूँ, जिसमें शक्ति हो वह आकर मुझसे युद्ध करे।" यह कह वे कुमारी वैशालिनी को लेकर चल दिये।

स्वयम्बर मे आये हुए समस्त राजा और राजकुमारों ने इस बात मे अपना बड़ा अपमान समझा। वे परस्पर में कहने लगे—"हम लोगो के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है, हम सबके देखते देखते एक साधारण राजकुमार बलपूर्वक बिना कन्या की इच्छा के—उसे हर ले जाय। यह नारी जाति का ही अपमान नहीं है। क्षत्रिय मात्र का अपमान है। क्षत से-दुःख से-जो प्राणियों का त्राण करे, रक्षा करे, वही क्षत्रिय कहाता है। हम इतने क्षत्रिय बैठे हैं और अकेला अवीक्षित् हम सबके सिर पर पैर रख कर राजपुत्री को ले जाय, यह तो हमारे लिये चुल्लू भर पानी में डूब जाने की बात है।"

इस प्रकार परस्पर में परामर्श करके वे सभी युद्धोन्मत्त राजा और राजकुमार अकेले अवीक्षित् पर टूट पड़े। वे अकेले थे ये सहस्रों थे। फिर भी करन्धनंदन कुमार अवीक्षित् बड़ी वीरता से उनका सामना करते रहे। उन्होंने पीछे पग नहीं रखा। दिव्य अस्त्र छोड़ कर एक साथ ही सबके कवच तोड़ दिये। किसी का सिर धड़ से उड़ा दिया, किसी के धनुष को काट दिया, किसी की भुजाओं को उन्मूल कर दिया, किसी को अङ्ग भङ्ग कर दिया। इतने राजकुमार अकेले अवीक्षित् के प्रहार को सहन करने में समर्थ नहीं हुए। वे सबके सब रण

से भाग खड़े हुए। अवीक्षित् विजयी सिंह की भाँति खड़ा-खड़ा गर्ज रहा था।

यह तो राजकुमारों ने अपना और अधिक अपमान समझा। एक राजकुमार हम सबको जीतकर कन्या को ले जाय, यह तो हम सब को मरण के समान है। फिर तो हमें क्षत्रिय कहलाना ही छोड़ देना चाहिये। ऐसा विचार करके ७०० युवक राजकुमार प्राणों का मोह छोड़ कर उससे पुनः लड़ने गये। जो सेना भाग रही थी, उसे उन्होंने रोका नहीं। उनकी प्रतिज्ञा थी या तो हम सब के सब रण में मर जायँगे, या कन्या को छुड़ा कर अवीक्षित् को बन्दी बना लेंगे। एक भी जब तक जीवित रहेगा, तब तक युद्ध निरन्तर होता रहेगा।" ऐसा निश्चय करके वे बड़े उत्साह के साथ प्राणपण से लड़ने लगे। दोनों ओर से घनघोर युद्ध होने लगा। दोनों ओर से दिव्य अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग होने लगे दोनों ओर से मारो, काटो, पकड़ लो, जाने न पावे ऐसे शब्द होने लगे घनघोर युद्ध हुआ, अभूत पूर्व समर हुआ। कुमार अवीक्षित् धर्म पूर्वक युद्ध करने लगे। इन ७०० ने धर्म का कुछ भी विचार नहीं किया। इनको तो यही लक्ष्य था, कि किसी प्रकार अवीक्षित् पकड़ा जाय। अतः सब ने एक साथ मिलकर उस अकेले कुमार पर अन्याय-पूर्वक प्रहार किया। अकेला ७०० वीरों के प्रहारों को किस प्रकार सहन कर सकता था। कुछ काल तक तो वीरतापूर्वक लड़ा। अन्त में घायल होकर पृथिवी पर गिर गया। उसके गिरते ही सर्वत्र कोलाहल मच गया। दो चार कुमारों ने जाकर उसे पकड लिया और धर्मपूर्वक बाँधकर उसे बन्दी बना लिया। कन्या के साथ लाकर वैदिश नगर के महाराज विशाल को उन दोनों को सौंप दिया।

यह समाचार सेवकों ने तुरन्त ही महाराज करन्धम को दिया। इस समाचार से सैनिक सचिव तथा मन्त्री सभी उत्तेजित हो उठे। कोई कहता—"यह हमारे वंश का अपमान है।" कोई कहता—"उन सात सौ राजकुमारों को तुरन्त बाँध लो" कोई कहता विशाल राजा पर चढ़ाई कर दो।" उन सबकी बात सुनकर करन्धम ने कहा—"भाइयो! केवल बातें बनाने से ही काम न चलेगा। कुमार ने कोई बुरा कार्य तो किया ही नहीं। उसने तो क्षत्रियोचित ही कार्य किया। उसने शत्रुओं को युद्ध में मारा भी। किन्तु जब एक से ७०० वीर एक साथ युद्ध करने लगे, तो वह अकेला कहाँ तक लड़ता ? अब हम सबका कर्तव्य है; कि कुमार को तुरन्त छुड़ावें। अब विलम्ब करने का काम नहीं तुरन्त सेना को सजाओ, समर के बाजे बजाओ, सैनिकों को वैदिश नगर की ओर बढ़ाओ। मेरा भी रथ अविलम्ब मँगाओ मैं भी युद्ध करने चलूगा।"

राजा की आज्ञा पाते ही सेना सजने लगी। वीरों के हृदय में वीरता की लहरें उठने लगीं। उनके ओठ फड़कने लगे अस्त्र शस्त्रों को घुमाते हुये, भुजाओं को घुमाने लगे। घोड़ों पर चढ़कर, उन्हें नचाने लगे। क्षण भर में ही चतुरंगिनी सेना सज कर चल दी। महाराज विशाल ने जब करन्धम की सेना के आने का समाचार सुना, तो उनकी धमनियों में भी वीरता का रक्त प्रवाहित होने लगा। उन्होंने आगत सभी कुमारों और राजाओ से सहायता चाही। सभी महाराजा विशाल की ओर से लड़ने के लिये उद्यत हो गये। दोनों ओर से घमासान युद्ध आरम्भ हुआ। तीन दिन तक दोनों सेनाओं में निरन्तर घमासान युद्ध होता रहा। महाराज विशाल ने देखा मेरी सेना थक गई है। मेरे साथी भी हतोत्साह हो गये

हैं। महाराज करन्धम को हम किसी भी प्रकार नहीं जीत सकते। इनमें मानवी ही शक्ति नहीं है दैवी शक्ति है। इनसे युद्ध करना उचित नहीं।" यही सब सोचकर उन्होंने सन्धि की ध्वजा फहरा दी। उसी क्षण दोनों ओर के वीरों ने अस्त्र शस्त्र रख दिये। युद्ध बन्द हो गया। महाराज विशाल अर्घ्य लेकर महाराज करन्धम के समीप गये। वस्त्राभूषणों से उनकी विधिवत् पूजाकी और कहा—"महाराज! आपके पुत्र ने बड़ी वीरता का कार्य किया। अकेले ने असंख्यों सैनिकों को मार गिराया। आपने भी क्षत्रिय धर्म का ही पालन किया। बिना युद्ध किये आपको मैं कन्या दे देता तो इसमें न मेरी देने मे शोभा थी, न आपकी लेने में। अब आपने युद्ध में मुझे जीत लिया है, इसीलिये आप इस अपने पुत्र को लें और मेरी कन्या को पुत्र वधू के रूप में स्वीकार करें।"

महाराज विशाल की बातो का राजराजेश्वर करन्धम ने अभिनन्दन किया, उन्होंने राजा के आतिथ्य को स्वीकार किया एक रात्रि उनके यहाँ सुख पूर्वक रहे।

दूसरे दिन राजा विशाल अपनी कन्या को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके महाराज करन्धम के समीप ले गये और जाकर बोले—"प्रभो! मेरी यह सर्व लक्षण सम्पन्न पुत्री है इसे आप अपने सर्वसमर्थ सुत के निमित्त स्वीकार कीजिये और इसे अपनी पुत्र वधू बनाइये।"

कन्या को देखकर महाराज करन्धम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! यह सम्बन्ध हमारे अनुकूल ही है।" महाराज यह कह ही रहे थे कि बीच में ही कुमार अवीक्षित् बोल उठे—"पिताजी! मैं इस कन्या से विवाह न करूँगा। इसी से नहीं

किसी भी कन्या से विवाह न करके मै जीवन भर अविवाहित ही बना रहूँगा।"

पिता ने कहा—"भैया ! क्या बात है ?" अवीक्षित् बोले—"पिताजी ! मै क्षत्रिय कहलाने के योग्य नही। यह कुमारी अपना वीर और सर्वश्रेष्ठ पति चाहती थी। मुझ मे वीरता कहाँ रही, मुझे तो शत्रुओं ने परास्त करके वन्दी बना लिया ऐसे निर्बल की पत्नी बनकर यह क्या सुख पावेगा। इसके सम्मुख ही शत्रुओ ने शस्त्र मारकर मुझे पृथिवी पर गिरा दिया, तो मैं इसे अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा। मै इस योग्य रहा ही नही कि किसी क्षत्रिय कन्या का पाणि ग्रहण करूँ। यहाँ इतने राजकुमार उपस्थित है। कुमारी अभी कन्या है, यह चाहे जिसे वरण कर ले, मैं इसके साथ विवाह नहीं कर सकता। यह मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है।"

यह सुनकर विशाल ने अपनी युवती कन्या की ओर देखकर कहा—"बेटी ! राजकुमार की बातें तो तुमने सुन ही ली है। ये महात्मा अपने वचनों को वदल नही सकते। इसलिये तुम इन आये हुए अन्य कुमारों में से किसी को भी वरण कर लो, तुमने तो इन्हें स्वेच्छा से वरण किया नही था ये तुम्हे वलपूर्वक ले गये थे। अब तू स्वतन्त्र है, इन्हें छोड़कर फिर से किसी राजकुमार के कंठ में जयमाला पहिना दे। अथवा अब तुझे फिर से ऐसा करने में संकोच हो, तो हम ही इनमें से किसी राजकुमार के साथ तेरा विधि पूर्वक विवाह करे देते है, उसी को तू स्वीकार कर ले।"

पिता के मुख से ऐसी बात सुनकर अत्यन्त ही लजाती हुई, अवनि की ओर निहारती हुई नीचा सिर करके कुमारी

वैशालिनी शनैः शनैः बोली—"पिताजी ! मुझे आप गुरुजनों के सम्मुख ऐसी बातें कहनी तो न चाहिये, किन्तु परिस्थिति ने कहने के लिये मुझे विवश ही कर दिया है। पिताजी ! इन कुमार की धीरता, वीरता, बल, वीर्य, पराक्रम तथा शूरता की बातें मैं चिरकाल से सुना करती थी। इनके अद्वितीय रूप लावण्य की भी सर्वत्र ख्याति थी। इनकी शूरता तो मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से ही देखी है। इनके ऊपर सहस्रों कुमारों ने अधर्म पूर्वक आक्रमण किया, किन्तु ये अकेले सिंह की भाँति धर्म पूर्वक युद्ध करते रहे। इन्होंने युद्ध मे जैसी वीरता दिखाई है, उससे मैंने मन ही मन इन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। मैं केवल इनके अद्वितीय रूप, लावण्य सौन्दर्य तथा युवावस्था के ऊपर ही अनुरक्त नहीं हुई हूँ, इनकी वीरता ने मुझे बाध्य कर दिया कि मैं इन्हे वर रूप से वरण करूँ। पिताजी ! क्षत्रिय कन्या एक बार ही पति को वरण करती है। मन से जिसे उसने आत्म समर्पण कर दिया, वही उसका सदा के लिये जीवन मरण का साथी हो गया। इन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर रथ में बिठाया था। मैंने भी इनके पाणि में अपना पाणि स्वेच्छा से दे दिया। एक प्रकार से इन्होंने मेरा पाणि-ग्रहण कर ही लिया। अब मैं जीते जी किसी दूसरे पुरुष की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देख सकती। यद्यपि युद्ध में इनके यश और पराक्रम के कुछ हानि अवश्य हुई है। बन्दी बना लेना इनके लिये लज्जा की बात अवश्य है, किन्तु ये पराजित नहीं हुए। अधर्म से राजाओं ने इन्हें पकड़ा है। मेरे पति तो ये ही हैं इनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कुमार मेरा पुनः पाणि-ग्रहण नहीं कर सकता।"

कन्या के ऐसे वीरोचित दृढ़ वचन सुनकर विशाल बड़े

प्रसन्न हुए उन्होंने विनय के साथ कुमार अवीक्षित् से कहा—"राजकुमार ! मेरी पुत्री ने धर्म पूर्वक वचन कहे हैं। आप पृथिवी पर अपनी वीरता शूरता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। मेरी कन्या सर्वथा निर्दोष है। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें और इस कन्या का पाणिग्रहण करके मुझे कृतार्थ करें, मेरे कुल की कीर्ति को उज्वल बनावें। मेरी चिन्ता को दूर करें, मेरे सिर के बोझ को हलका करें और इस कन्या के मनोरथ को पूर्ण करें।"

कुमार महाराज विशाल की ये बातें सुनकर चुप रहे। उन्हें कुछ भी उत्तर न देते देखकर महाराज करन्धम अपने पुत्र से बोले—"बेटा ! देखो, ये राजा कितने धर्मात्मा और विनयी हैं। यह कन्या कितनी सुशीला गुणवती तथा रूपवती है। इसका तुम्हारे प्रति कैसा सुदृढ़ अनुराग है। राजा भी इसका विवाह तुम्हारे साथ करने को उत्सुक हैं। हम सबकी भी बड़ी इच्छा है, कि तुम्हें पुत्र वधू के साथ देखें। अत तुम इनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लो और इस निर्दोषा कन्या को ग्रहण करो।"

पिता की बात सुनकर लजाते हुए कुमार ने कहा—"पिता जी ! मैं जानता हूँ, ये महाराज उच्च वंश के कुलीन नरपति हैं। मुझे यह भी विदित है कि यह कन्या सर्वगुण सम्पन्ना सुन्दरी तथा सुशीला है। यदि मैं अपनी योग्यता से इसे पत्नी रूप में पा सकता, तो मुझे परम प्रसन्नता होती। आपकी आज्ञा मुझे सर्वथा सब समय बिना विचार के मान्य है। मुझे स्मरण नहीं, कि मैंने कभी भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया हो, किन्तु मैं अपनी अयोग्यता के कारण सर्वथा इस सुन्दरी के पति बनने के अयोग्य हूँ। आप मोह वश ऐसी आज्ञा न दें,

जिसका पालन करने में मैं असमर्थ होऊँ। चाहे जो हो, मैं विवाह अब न करूँगा।"

कुमार के ऐसे दृढ वचनों को सुनकर वहाँ सभी के मुख पर उदासी छा गई। निराशा के स्वर में हाराज विशाल ने अपनी प्यारी पुत्री वैशालिनी से कहा—"बेटी ! कुमार अपनी प्रतिज्ञा छोड़ नहीं सकते। अतः अब तू अपना मन इनकी ओर से हटा ले। भाग्य को कौन अन्यथा कर सकता है। कुमारी कन्या के लिये सैकड़ों इच्छा करते हैं, वह भी सैकड़ों की ओर मन चलाती है, अन्त में जिसके साथ उसका भाग्यवश विवाह हो जाता है, वही उसका पति हो जाता है, फिर अन्य सब उसके लिये पर पुरुष हो जाते है। अतः तू अभी कन्या है। हठ मत करे आये हुए राजकुमारों में से किसी एक को तू अपना पति बना ले।"

कुमारी ने कहा—"पिताजी ! आप मुझ से अधिक आग्रह न करें। मेरे पति तो ये ही हैं। यदि ये मुझे पत्नी रूप से ग्रहण करना नहीं चाहते, तो न करे। मैं वन मे जाकर घोर तपस्या करूँगी, इन्ही के नाम की माला जपूँगी। इस जन्म में न सही, अग्रिम जन्म में मैं इन्हें पति रूप मे अवश्य ही वरण करूँगी। कुलवती कन्याओं का हृदय एक होता है, उसमे जिसने स्थान कर लिया वह परलोक तक उनके हृदय मे रहता है। यह तो कुलटाओं का कार्य है, कि एक को छोड़कर दूसरे को वरण किया। इस जन्म में क्या अन्य किसी भी जन्मों में इनके अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई पति हो ही नही सकता। इस सम्बन्ध में अब आप अधिक आग्रह न करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दोनों राजाओ को कुमार और कुमारी की ऐसी प्रतिज्ञाओं से दुःख हुआ। किन्तु युवावस्था-पन्न सन्तानों से वे कह ही क्या सकते थे। दोनों ही निराश

हो गये। राजा विशाल की प्रसन्नता के लिये महाराज करन्धम तीन दिन तक उनके अतिथि और रहे। अन्त में अपने नगर को चले गये।

इधर राजकुमारी वैशालिनी अपनी माता से तथा पूज्य पिता से आज्ञा लेकर तपस्या करने वन के लिये चलदी। अत्यन्त सुन्दरी परम सुकुमारी युवती कन्या को घोर वन में कठिन तपस्या के लिये जाते देख कर माता पिता की छाती फटने लगी। उन्होंने अपने अश्रुओं से पुत्री के सम्पूर्ण वालों को भिगो दिया। किन्तु कुमारी तो दृढ प्रतिज्ञ थी वह अपने माता पिता के पैर छूकर घोर वन में चली गई और वहाँ जाकर निराहार रहकर घोरतप करने लगी। उसने तीन महीने तक कुछ भी नहीं खाया। इससे उसका समस्त रक्त मांस सूख गया। शरीर में केवल अस्थि शेष रहीं। उसकी नस नस दिखाई देती थी, उसका मुख सूख गया था, आँखें भीतर घुस गई थी दूर से देखने से वह अस्थि कंकाल के सदृश दिखाई देती थी।

एक तो वह राजा की पुत्री थी, दूसरे अत्यंत ही सुकुमारी थी अपनी माता को अत्यंत ही प्यारी दुलारी थी। उसने आज तक कभी एक समय उपवास भी नहीं किया था। खाली पृथिवी पर कभी पैर नहीं रखा था। अपने हाथ से कभी कोई कार्य नहीं किया था। अब उसे सभी कार्य स्वयं करने पड़ते, तीन महीने कुछ न खाने से उसे अत्यंत ही कष्ट प्रतीत होने लगा। भूख के कारण उसका उत्साह मंद पड़ गया। उसे यह जीवन भार सा प्रतीत होने लगा। अब उसने अत्यत दुखित होकर यह निश्चय कर लिया कि मैं आत्महत्या कर लूँगी।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! यह मानव जीवन एक पहेली

है। निर्धन समझते हैं, धनी सुखी हैं किन्तु धनियों के लि धनअभिशाप बन जाता है, क्योंकि उनकी लालसा और अधि बढ़ती जाती है। कुरूपा कन्यायें समझती हैं, सुन्दर कन्या परम सुखी होंगी, किन्तु कभी कभी सुन्दरता अभिशाप के रूप में दुखदाई हो जाती है। सुन्दरी को अपने अनुरूप पति न मिले तं दुख और जिसे वह चाहती हो, वह न चाहे तो दुख। इस प्रका संसार, में सुख नहीं। चिंता, ग्लानि, दुख इन्हीं से मानव प्राणी सदा घिरा रहता है। वैशालिनी परम सुन्दरी थी। सभ राजकुमारियाँ उसकी सुन्दरता से ईर्ष्या करती थी। सहस्रे राजकुमारों की उस पर एक साथ आँखें गड़ी थी। आज वह मुरझाई हुई मालती के समान शून्यारण्य में पड़ी भख रही है। कोई उसकी ओर देखने वाला भी नहीं, भाग्य की कैसी विडंबना है।

वैशालिनी भूख के कारण दुखी थी। चित्त अवीक्षित के रूप में फँसा था। उसकी प्राप्ति की कोई आशा नही थी। उसे सम्पूर्ण संसार सूना सूना सा दिखाई देता था। जीवन आशा के आधार पर टिक सकता है। निराशा में जीवन नहीं, गति नहीं, संचलन नहीं, क्रिया नही वर्धन नहीं। कुमारी ने निश्चय कर लिया इस शरीर का अन्त ही कर दूँगी। यही सब सोचकर सम्मुख द्रुतगति से बहने वाली सरिता को देख कर वह सोचने लगी—"इस सरिता की गति मे कितना उत्साह है, कितनी उमंग से, कितनी प्रसन्नता के साथ यह दौड़ी जा रही है उसके हृदय में कितनी अभिलाषायें है। इसे अपने पति समुद्र से मिलने की आशा है, उसी आशा से यह बिना ठहरे दौड़ी चली जा रही है। मुझे पति मिलन की आशा नहीं। प्राणवल्लभ के कंठ में भुजा डालकर उनका मनोहर आनन निहारने की मेरी साध

री होने की कोई संभावना नही। मेरे जीवन में उत्साह नहीं, (य में उमंग नही, फिर इस जीवन भार को ढोना व्यर्थ यह सरिता स्त्री है, नारी जाति की अभिलाषा को यह जानती नारी की पीड़ा को ये कठोर हृदय पुरुष क्या अनुभव कर कते हैं। मैं इस सरिता को ही अपना शरीर समर्पित कर गी। यही मुझे कभी मेरे प्राणवल्लभ से मिला देगी।" ऐसा श्चय करके वह एक ऊँचे पाषाण के चट्टान पर चढ़ गई र वहाँ से कूद कर प्राण देने के लिये ज्यों ही उद्यत हुई त्यों उसे आकाश में एक दिव्य दूत दिखाई दिया। वह हाथ हिला-ला कर कह रहा था—"देवि! तुम ऐसा साहस मत करो मेरी त सुनो।"

देवदूत के मुख से ऐसी बात सुनकर वैशालिनी ठिठक गई। सने नदी में छलांग नहीं मारी। उसने श्रद्धा सहित देवदूत को मि में सिर रखकर प्रणाम किया और बड़ी ही करुणाभरी वाणी बोली—"हे देव! आप कौन है? मुझ अभागिनी के ऊपर आप अकारण इतनी करुणा क्यों कर रहे है। मैं इस भार स्वरूप जीवन को रख कर क्या करूँगी। मैं किस आशा को लेकर जीवित रहूँ? आप मुझे मरने क्यो नही देते? क्यों मुझे रोक हे हैं?"

देवदूत ने कहा—"देवि! मैं देवदूत हूँ, मुझे देवताओं ने भेजा। देखो, तुम ऐसा साहस मत करो। मानवजीवन बड़ा अमूल्य

है। इसे योंही न खो देना चाहिये। मनुष्य यदि जीता रहेगा, तो सैकड़ों कल्याणप्रद कार्यों को देखेगा। कभी न कभी तो उसका

भाग्य बदलेगा।"

कुमारी ने कहा—"अब मेरा क्या भाग्य बदलेगा देवदूत। मैं

किस आशा से जीवन को रखूं। मेरा आशा दीपक तो बुझ गया, जिसका मुख देखकर जीवित रह सकती थी, उसे तो मेरे भाग्य ने निष्ठुर बना दिया। तुम देवदूत हो, इस पर मैं अविश्वास नहीं करती। तुम्हारे पैर पृथिवी का स्पर्श नहीं करते, तुम आकाश में अधर स्थित होकर मुझ से बातें कर रहे हो, इसी से मैं अनुमान लगाती हूँ तुम अवश्य देवदूत हो। देवताओं ने मेरे लिये क्या संदेश भेजा है?"

देवदूत ने कहा—"कुमारी! तुम निराश मत होओ। देवताओं ने कहा है तुम आत्महत्या मत करो, तुम वीर प्रसविनी माता होओगी। तुम्हारे गर्भ से एक बड़ा ही तेजस्वी चक्रवर्ती राजा होगा। वह सम्पूर्ण पृथिवी पर अपना शासन जमावेगा। दुष्ट म्लेच्छों को मार भगावेगा, वह धर्म और सत्य का प्रचारक होगा। उसके समान शूरवीर, यशस्वी दूसरा कोई भी राजा न होगा।"

वैशालिनी ने कहा—"देवदूत! तुम कैसी आश्चर्य भरी बातें कह रहे हो? मेरा तो विवाह ही अभी नहीं हुआ है। जिसे मैंने मन से वर किया है, उसने तो आजन्म अविवाहित रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है। वह कभी अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नही हो सकता। मैं उसके अतिरिक्त स्वप्न में भी दूसरे पति को वरण नहीं कर सकती। जब ऐसी बात है, तो बिना पति के मेरे गर्भ से चक्रवर्ती पुत्र कैसे होगा? फिर देवताओं की बात पर अविश्वास भी नही किया जा सकता। वे सर्वज्ञ हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान सभी की बातें जानते हैं। इन विपरीत बातों से मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।"

देवदूत ने कहा—"देवि! भाग्य को मेटने की शक्ति किसी में नही है। भाग्य के सम्मुख सबकी प्रतिज्ञायें व्यर्थ हो जाती है।

हमें ठग लिया। परिस्थिति ही प्राणी को जैसा चाहती है वैसा बना देती है। नहीं तो पुरुष-स्त्री को चाहता है, स्त्री पुरुष को, दोनों के ही हृदय में प्यार है, अनुराग है। मिलन की उत्कट इच्छा है किन्तु भाग्य मिलने नहीं देता। समय से पहिले किसी का संयोग हो नहीं सकता। अतः मैं यहाँ बैठी-बैठी समय की प्रतीक्षा करूँगी। जब मेरा उनके साथ मिलने का समय आ जायगा, तो अवश्य हमारा सम्मिलन होगा। उसे कोई मेंट नहीं सकता। इस प्रकार वह अवीक्षित् के ही रूप का ध्यान करती हुई काल यापन करने लगी।

इधर अब कुमार अवीक्षित् के पिता करन्धम और वीर प्रसविनी मानवीरा को अपने इकलौते पुत्र को अविवाहित अवस्था देखकर बड़ा ही दुःख होता। माताओं को इससे बड़ा कोई भी दुःख नहीं कि उनके सामने उनका युवक पुत्र अविवाहित रहे। वे पुत्रवधू के साथ पुत्र को देखकर प्रमुदित और परम प्रफुल्लित हो जाती हैं। वीरा चाहती थी मेरा पुत्र विवाह कर ले, किन्तु वे जानती थीं, वह बड़ा हठी है, जो प्रतिज्ञा वह कर लेता है उससे उसे ब्रह्मा भी विचलित नहीं कर सकते। इसीलिये वे उसकी इच्छा के विरूद्ध विवाह का कभी प्रस्ताव न रखती।

एक दिन माता ने कहा—"बेटा! देखो, तुम्हारे कारण मुझे सभी वीरप्रसविनी माँ कहते हैं। मेरी इच्छा एक व्रत करने की है। वह तुम्हारी सहायता से ही पूरा हो सकता है।"

अवीक्षित् ने कहा—"माताजी! मेरे लिये इससे बढ़ कर सौभाग्य की बात कौन सी होगी, जो मैं आपके व्रत में सहायता दे सकूँ। मैं अपने प्राणों को देकर भी आपके व्रत को पूर्ण करूँगा आप कौन सा व्रत करना चाहती हैं?"

माता ने कहा—"देखो, मैं किमिच्छक व्रत करना चाहती हूँ। इसमें मुझे उपवास पूर्वक धनाध्यक्ष कुबेर की, सम्पूर्ण निधियों की, निधिपालों की लक्ष्मी जी की पूजा करनी होगी। उपवास के अंत में जो याचक आकर मुझसे जो भी याचना करेगा, उसकी वही याचना पूरी करनी पड़ेगी।"

अवीक्षित् ने प्रसन्न होकर कहा—"माता जी, आप इस "किमिच्छक" व्रत को अवश्य करें। मेरे पिता जी ने यदि आपको व्रत करने की आज्ञा प्रदान कर दी है, तो आप विलम्ब न करें, हमारे यहाँ किसी वस्तु की कमी तो है ही नहीं। आपके आशीर्वाद से कोई भी याचक विमुख न जायगा सब की इच्छा पूरी की जायगी।

माता ने कहा—"वेटा! तुम्हारी बड़ी आयु हो, सावधानी के साथ याचकों की इच्छा पूरी करना। मैं तो अन्तःपुर में ही रहूँगी बाहर जो भी आवे उसी को इच्छित वस्तु देना।"

पुत्र ने हाथ जोड़ कर कहा—"माताजी! ऐसा ही होगा।" पुत्र से आश्वासन पाकर करन्धम की सौभाग्यवती पत्नी वीर-प्रसविनी वीरा शास्त्रीय विधि के साथ "किमिच्छक" व्रत का अनुष्ठान करने लगी। वह उपवास पूर्वक कुवेर आदि सभी का पुरोहित द्वारा पूजन कराती और नियम संयम पूर्वक रहती। नित्य ही द्वार पर आये हुए भिक्षुकों को धन धान्य वस्त्राभूषण लुटाती।"

एक दिन राजा राजसभा में बैठे थे। उनके वृद्ध मंत्रीगण उदास होकर उनके समीप आये, राजा ने उनसे उनकी उदासी का कारण पूछा। इस पर एक वृद्ध ने कहा—"प्रभो! आपका इतना बड़ा राज्य है। आपके एक ही पुत्र है। उसने भी विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर रखी है। अब इस वंश का विच्छेद

होना चाहता है, अब आपके पितरों को जल तथा पिंडदान कौन देगा। हमें इस बात की चिन्ता है।"

राजा ने कहा—"मंत्रीजी ! मंगलमय भगवान् सब मंगल ही करेंगे। इस पुत्र को मैने बड़ी आराधना के अनन्तर प्राप्त किया था। भगवान् की इच्छा यदि हमारे वंश का विच्छेद करने की ही है, तो उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किस में है ?"

मंत्रीगण सभा में बैठे हुए राजा से बातें कर ही रहे थे, कि उन्हें राजद्वार पर एक शब्द सुनाई दिया। उनके पुरोहित द्वार पर खड़े हुए भिक्षुओं को सम्बोधन करके कह रहे थे–"महाराजाधिराज करन्धम की वीरप्रसविनी पत्नी परम सौभाग्यवती महारानी वीरा "किमिच्छक" व्रत का अनुष्ठान कर रही हैं। किसे किस वस्तु की आवश्यकता है ? कौन क्या चाहता है ? आज सबकी इच्छा पूरी की जायगी ? आज जो याचक जिस वस्तु की याचना करेगा उसे वही वस्तु मिलेगी ? पुरोहित इतना कहकर चुप हो गया। फिर राजकुमार ने भी मेघ गंभीर वाणी से भिक्षुकों की भीड़ को संबोधन करके कहा—"भिक्षुको ! आज तुम्हारी जो भी इच्छा हो मांग लो। मैं अपनी सौभाग्यवती माता का आज परम, प्रिय कार्य करना चाहता हूँ। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ मेरे शरीर से जिस याचक का जो भी कार्य सिद्ध होगा, उसे अविलम्ब करूँगा; आप लोग संकोच न करें। मैं अपनी माता को प्रसन्न करने के निमित्त आज सबको इच्छित वस्तु दूँगा। आज किसी को भी निराश न जाने दूँगा।"

कुमार ने आश्चर्य के साथ देखा उन भिक्षुकों की भीड़ में मुकुट उतारे पल्ला पसारे उनके चक्रवर्ती पिता महाराज करन्धम भी खड़े हैं। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"कुमार की जय हो, मैं भी भिक्षुक हूँ, मेरी भी इच्छा पूरी की जाय।"

यह सुनकर कुमार लज्जित हुए। वे शीघ्रता पूर्वक नंगे पैरों ही सीढ़ियों से नीचे उतर आये और पिता के पैर छूकर बोले—पिताजी ! आज्ञा कीजिये, मैं आपकी कौन सी इच्छा पूरी करूँ? मैं अपनी माता के व्रत को सांगोपांग पूर्ण करने के निमित्त जो भी कोई मांगेगा उसे अवश्य दूँगा।"

राजा ने कहा—"देखो यदि तुम सत्यप्रतिज्ञ हो और माता के व्रत को यथाथ मे पूर्ण करना चाहते हो, तो मेरी इच्छा पहिले पूर्ण करो। मै अपनी गोद में पौत्र का मुख देखना चाहता हूँ। अपने पौत्र का प्रेम से मुख चुम्बन करना चाहता हूँ।"

यह सुनकर कुमार तो भौचक्के रह गये और कुछ देर सोच कर बोले—"पिताजी ! यह तो असम्भव याचना आप कर रहे हैं, आपके मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा पुत्र नहीं। मैंने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है, अतः आपको मैं पौत्र का मुख कैसे दिखा सकता हूँ ?"

पिता ने कहा—"यदि तुम सत्यप्रतिज्ञ हो तो जैसे भी हो मेरी इच्छा को पूर्ण करो। यदि तुमने मेरी इच्छा पूर्ण न की तो तुम्हें दो पाप लगेंगे ?" माता के सामने तुमने प्रतिज्ञा की है, "मैं तुम्हारे व्रत को शरीर देकर भी पूर्ण करूँगा।" और हम याचकों से प्रतिज्ञा की है, "तुम्हे इच्छित वस्तु दूँगा।" विवाह करने से तो तुम्हारी एक ही प्रतिज्ञा टूटती है और न करने से दो-दो पाप तुम्हें लगते हैं। अतः विवाह न करने की झूठी व्यर्थ प्रतिज्ञा को छोड़ो। विवाह करके अपनी माता का प्रिय कार्य करो और मेरी भी इच्छा पूर्ण करो।"

यह सुनकर कुमार उदास हो गये। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, पिताजी ! मैं विवाह करूँगा। पौत्र का मुख दिखा-

कर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करूँगा। किन्तु विवाह के लिये अभी मुझे कुछ अवसर दिया जाय।"

पिता ने प्रसन्न होकर कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा। विवाह जब चाहे करो, मुझे तो पौत्र का मुख देखना है।" इतना कह कर राजा राजसभा में चले गये। कुमार ने सभी याचकों की इच्छा पूर्ति की। माता से आकर निवेदन किया—"माँ! मैंने तुम्हारा व्रत तो पूर्ण कर दिया। तुमसे जो प्रतिज्ञा की थी, वह तो पूरी हो गई, किन्तु अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी।"

माता ने प्यार से कहा—"बेटा, युवावस्था में सभी लड़के विवाह के लिये मान किया करते हैं। इसे प्रतिज्ञा तोड़ना नहीं कहते। तू सुन्दर सी बहू लाकर मुझे दे, तो मेरे किमिच्छक व्रत का यही सबसे बड़ा फल है। मेरी भी तो तुझे इच्छा पूरी करनी चाहिये। मुझ से अब अकेले काम नही होता, मैं एक बहू—चाहती हूँ।"

अवीक्षित् ने हँसकर कहा—"तुम सबके सब बहू के लिये ही यह सब व्रत उपवास कर रहे हो, तो अच्छी बात है, मैं तुम्हें बड़ी सुन्दरी बहू लाकर दूँगा।" यह बात सुनकर माता वीरा को बड़ी प्रसन्नता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब तक प्रतिज्ञा रहती है, तब तक तो मनुष्य प्रतिज्ञा के बन्धन में बँधकर धैर्य धारण किये रहता है। जब प्रतिज्ञा शिथिल हो जाती है, तो उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। अब तो कुमार को वैशालिनी की वह मनोहर मूर्ति स्मरण आने लगी। उसका चित्र उसके हृदय में अंकित था, किन्तु प्रतिज्ञा की रज से वह ढक गया था। अब जब प्रतिज्ञा शैथल्य रूपी वायु ने उस रज को उड़ा

दिया, तब तो रात्रि-दिन उन्हे उसी कुमारी का ध्यान रहने लगा। अब उन्हें विशाल महाराज की राजधानी में जाने में बड़ी लज्जा लगती थी। अब किस मुख से जाकर मैं उनसे कन्या की याचना करूँगा। वे सोचते थे मैं गया और कन्या ने कह दिया—"अब मैं इससे विवाह न करूँगी" तो मेरा मरण हो जायगा। मैंने सुना है, उस कन्या ने अभी तक विवाह नहीं किया है। जो मेरे लिए सब कुछ त्यागकर तप कर रही है। उस त्यागमयी देवी को छोड़कर मैं किसी दूसरी राजकन्या से विवाह करता हूँ, तो सभी मुझे पाषाण हृदय और क्रूर कहेंगे।" "इन्हीं सब बातों को सोचकर कुमार अपना कर्त्तव्य निर्णय न कर सके। उन्हें यह भी पता नहीं था कि राजकुमारी अभी वन ही मे तपस्या कर रही है या अपने घर लौट आई।

एक दिन कुमार अपने कुछ साथी सैनिकों को साथ लेकर आखेट के लिए वन में गये। वहाँ उन्होंने बहुत से हिंसक जन्तुओं को मारा। सहसा उन्हें अरण्य मे किसी कामिनी के करुण कंठ से निकला हुआ चीत्कार सुनाई दिया। प्रतीत होता था किसी स्त्री को कोई दुष्ट पीड़ा दे रहा है। भारतीय क्षत्रिय युवक और चाहे सब कुछ सहन करले। किन्तु वह अबला का अपमान कभी सहन नहीं कर सकता। स्त्रियाँ सब काल में सर्वदा अवध्या मानी गई हैं। उनका जो कोई अपमान करता है, उन्हें त्रास देता है वह वध्य है दण्डनीय है। प्राण देकर भी युवक उसके दुःख को दूर करता है। कुमार उस स्त्री के चीत्कार को सुनकर उसी ओर चले। वे शीघ्रता से घोड़ा दौड़ाते हुए उस स्त्री के समीप जा पहुँचे। वह युवती अत्यन्त ही सुकुमारी और सुन्दरी थी। उसके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व आभा छिटक रही थी। एक दुष्ट दानव डंडा लिये उसे डरा धमका रहा था

उसके साथ बलात्कार करने को प्रस्तुत था । युवती कुररी पक्षिणी के समान रुदन कर रही थी । वह कह रही थी—' अरे ! कोई मेरा रक्षा करो । यह दुष्ट दानव मुझे बल-पूर्वक हर कर ले जा रहा है आज मैं सनाथ होकर भी भाग्यवश अनाथ हो रही हूँ ।,,
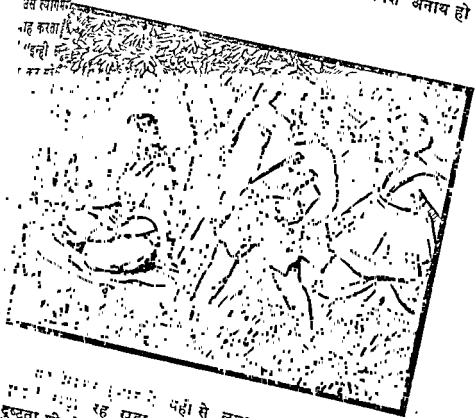
[illegible] वहीं से ललकार कर कहा—"अरे, [illegible] रह खड़ा रह । सावधान ! यदि अब तूने कुछ दुष्टता की तो तुझे यमपुर पठा दूँगा ।,,

कुमार को अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित अपनी ही ओर आते,

देखकर उस युवती ने कहा—"कुमार ! मुझे बचाओ। यह दुष्ट मुझे बलपूर्वक वन से हरकर लिये जाता है।"

कुमार ने कहा—"देवि ! तुम चिन्ता मत करो, मैं इस दुष्ट दैत्य को अभी इसकी दुष्टता का फल चखाता हूँ, अभी इसे यमसदन पठाता हूँ।"

उस दुष्ट दनुपुत्र दृढ़केतु ने जब राजकुमार को अस्त्र-शस्त्र लेकर अपनी ही ओर आते देखा, तो वह उस युवती को छोड़कर डंडा लेकर कुमार की ओर दौड़ा। कुमार भी सन्नद्ध थे। वे भी दिव्य अस्त्र लेकर उसे मारने दौड़े। दोनों में घनघोर युद्ध होता रहा। दानव तो मायावी था, वह अनेकों अस्त्र राजकुमार पर चलाता रहा। कुमार भी धनुर्वेद विशारद थे। वे उसके सभी अस्त्रों को काटते गये। जब उसके सब अस्त्र शस्त्र समाप्त हो गये तो वह ताल ठोककर द्वन्द युद्ध करने के लिये ज्योंही कुमार की ओर दौड़ा, त्योंही एक बाण से कुमार ने उसका सिर काट दिया। सिर कटते ही वह धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।"

उस दैत्य के मरते ही स्वर्ग से बहुत से देवता अपने अपने विमानों में चढ़ कर आये और कुमार को साधुवाद देते हुये कहने लगे—"कुमार ! तुमने यह बड़े ही साहस का कार्य किया। यह दानव बड़ा दुष्ट था। देवताओं के लिये भी यह अवध्य था इसे मारकर आपने हम सब का अत्यन्त ही प्रिय कार्य किया। हम आपकी वीरता से बड़े सन्तुष्ट हैं। आपकी जो इच्छा हो,वह वर हमसे मांग लो।"

कुमार अवीक्षित् ने सिर झुकाकर देवताओं को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले—"देवताओ ! यदि आप मुझपर

प्रसन्न हैं, तो मेरी माता पिता के चरणों में भक्ति हो और पिता की इच्छानुसार मेरे एक पुत्र भी हो।"

देवताओं ने कहा—"कुमार तुम्हारा कल्याण हो। अभी तुमने जिस कन्या का उद्धार किया है, उसी से तुम्हारे एक बड़ा तेजस्वी, यशस्वी, चक्रवर्ती पुत्र होगा।"

कुमार ने कहा—"देवताओ! आप धर्म के साक्षी होकर कैसी अधर्म की बात कह रहे हो। शत्रुओं से स्त्री के सम्मुख ही परास्त होने के कारण मैंने विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु पिता के गौरव से मैंने विवाह न करना स्वीकार तो कर लिया है, किन्तु जिस विशालपुत्री ने मेरे ही कारण अब तक विवाह नहीं किया है, उस परमतपस्विनी देवी को छोड़कर यदि मैं किसी अन्य स्त्री से विवाह करता हूँ, तो मुझे नरकों में भी स्थान न मिलेगा। अतः मैं उस त्यागमयी देवी को छोड़कर इसके साथ कभी विवाह नहीं कर सकता।"

देवताओं ने कहा—"महाभाग! आप चिन्ता न करें, जिसका आप सदा चिन्तन करते रहते हैं, जिसकी मूरति आपके हृदय पटल पर अंकित है, यह यही विशाल महाराज की पुत्री वैशालिनी है। वह तुम्हारे ही निमित्त तपस्या कर रही है। आज इसकी तपस्या पूर्ण हुई।"

इतना कहकर देवता तुरन्त अन्तर्धान हो गये। कुमार ने यह स्वप्न के समान समझा। तपस्या करने से कुमारी वैशालिनी बड़ी दुर्बल हो गई थी। किन्तु उसके मुख का तेज अत्यन्त बढ़ गया था। कुमार उसे पहचान न सके। जब देवताओं ने उसका परिचय कराया, तो लजाते हुए

कुमार उसके समीप गये और अत्यन्त ही स्नेह के साथ बोले—"प्रिये ! तुमने मुझ हृदयहीन के कारण बड़े क्लेश सहे।"

वैशालिनी भी प्राणनाथ कहकर दौड़ी और उसके पैरों में पड़कर फूट-फूट कर रोने लगी। कुमार के धैर्य का भी बाँध टूट गया। उनके नेत्रों से भी प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे।

कुमार ने पूछा—"देवि ! तुम यहाँ अरण्य में अकेली कैसे आई ?" यह सुनकर कुमारी ने आनन्दाश्रु बहाते हुए रुक-रुक कर सब वृत्तान्त सुना दिया। सब समाचार सुनकर कुमार का हृदय भर आया और बोले—"देवि ! तुम धन्य हो, तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं, तुम्हारा कुल धन्य है तुम्हारी तपस्या धन्य है। मुझ पापी के पीछे तुम्हें इतने इतने कष्ट सहन करने पड़े। देवि ! मैं तुम्हें भुला नहीं सका हूँ। मैं तुम्हें इष्ट देवी की भाँति सदा प्यार करता रहा हूँ, किन्तु शत्रुओं से पराजित होने के कारण मैं लज्जित हो गया था। इसीलिये मैंने विवाह न करने का सकल्प कर लिया था। अब दैव की ही इच्छा ऐसी जान पड़ती है। मेरे माता-पिता ने भी मुझसे विवाह करने की प्रतिज्ञा करा ली है। देवता भी ऐसा ही वरदान दे गये हैं। दैव की ही इच्छा पूर्ण हो। यह सब तुम्हारी तपस्या का प्रभाव है। अब आगे हम लोगों का क्या कर्तव्य है, इसका निर्णय करो।"

वे दोनों अनुराग भरित हृदय से इस प्रकार की बातें कर रहे थे, कि इतने में ही मय नामका गन्धर्व बहुत सी अप्सराओं तथा गन्धर्वों के साथ वहाँ आ उपस्थित हुआ। अरण्य में अप्सराओं से घिरे गन्धर्वराज मय को देख कर दोनों ने

उनका अभिनन्दन किया और उन्होंने बैठने को आसन दिया। गन्धर्वराज के बैठजाने पर कुमार ने उनसे पूछा—"हे गन्धर्व श्रेष्ठ ! आप के यहाँ पधारने का कोई विशेष प्रयोजन हो, तो आप कहें।"

गन्धर्वराज ने कहा—"राजकुमार ! मैं अपनी पुत्री का आपके साथ विवाह करने आया हूँ।"

कुमार अवीक्षित् ने आश्चर्य के साथ कहा—"आप गन्धर्व हैं, उपदेव हैं। मैं मनुष्य जाति मे उत्पन्न हुआ हूँ, आप अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह क्यों करना चाहते हैं, फिर मैंने तो विशाल-नन्दिनी इस राजकुमारी वैशालिनी से विवाह करने की प्रतिज्ञा की है। इसके अतिरिक्त मैं त्रैलोक्य सुन्दरी देव कन्या से भी विवाह नही करना चाहता।"

यह सुनकर मय गन्धर्व ने कहा—"कुमार ! यह लड़की ही मेरी पुत्री है।"

कुमार ने और भी आश्चर्य के साथ पूछा—"यह आपकी पुत्री कैसे हुई ? यह तो मानवी कन्या है यह तो वैदेशराज महाराज विशाल की औरस पुत्री है, आप इसे अपनी कन्या कैसे बता रहे है ?"

गन्धर्व ने कहा—"राजन् ! पूर्व जन्म में यह मेरी भामिनी नाम की कन्या थी। एक दिन जब यह बच्ची ही थी, तो खेल-खेल में अपने बाल चापल्य से महर्षि अगस्त्य को इसने कुपित कर दिया था। इसकी अशिष्टता से असन्तुष्ट होकर महर्षि ने इसे शाप दे दिया था कि तू मनुष्य योनि में उत्पन्न होगी।' जब मैंने यह बात सुनी तो विनय करके मुनि को प्रसन्न किया

और प्रार्थना की 'प्रभो ! यह अभी अबोध बालिका है, इसके अपराध की ओर ध्यान न दें।" तब प्रसन्न होकर मुनि ने कहा—"बच्ची समझ कर ही तो मैंने इसे ऐसा साधारण सा शाप दिया है। अस्तु, मैं तो कभी झूठ बोलता ही नहीं, अतः मेरा शाप तो अन्यथा होने का नहीं परन्तु यह राजरानी होगी और चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करने वाली वीर प्रसविनी होगी।" इतना कह कर मुनि चले गये। वह मेरी पुत्री राजा विशाल के यहाँ उत्पन्न हुई। गन्धर्व गण देवताओं में सब से सुन्दर होते हैं इसीलिये यह कन्या मानवी योनि में भी इतनी अधिक सुन्दरी हुई अब मैं इसका आपके साथ धर्मपूर्वक विवाह करना चाहता हूँ।"

कुमार ने कहा—"अच्छी बात है।" बस, फिर क्या था, विवाह के बाजे बजने लगे। उत्सव के साज सजने लगे, गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नूपुरों की झनकार करती हुई नृत्य करने लगीं। जंगल में मंगल होने लगे। कुमार ने गन्धर्वों की विधि से कुमार के साथ गान्धर्व विवाह किया। मय ने वरकन्या को दिव्य दिव्य वस्त्राभूषण दिये फिर मय ने कहा—"कुमार ! कुछ काल तुम मेरे लोक में चल कर रहो।"

कुमार ने कहा—"मैं मनुष्य होकर आपके लोक में कैसे रह सकता हूँ ?"

मय ने कहा—"आप अपने तप और पराक्रम के प्रभाव से सर्वत्र जा सकते हैं, फिर भी मैं आपको विद्या दूँगा।" यह कह कर मय अपनी पुत्री और जामाता को लेकर गन्धर्वलोक में गये। वहाँ कुमार अवीक्षित् अपनी प्रिया वैशालिनी के साथ देव-

ताओं के वनों और उपवनों में विहार करने लगे। वे ऐसे दुर्लभ भोगों को भोगते, जिनको प्राप्त करना पृथिवी के किसी भी प्राणी को दुर्लभ है। उन दोनो में बड़ा ही स्नेह था। वे एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे। एक प्राण दो शरीर की भांति रहते थे। गन्धर्व और किन्नरों के साथ वे पर्वतों की कन्दराओं में, रमणीय उपत्यकाओं में तथा मनोहर वन और उपवनों में स्वच्छन्द विहार करते।

कुछ काल के पश्चात् वैशालिनी ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। उस पुत्र के जन्म के उपलक्ष में मय ने बड़ा भारी उत्सव किया। देव, उपदेव, नाग, सर्प, सभी बुलाये गये। देवताओं के पुरोहित बृहस्पति जी ने बारबार मंत्र पढ़ा मरुत्तवशिवायस्तु अर्थात् मरुत्त तुम्हारा कल्याण करें। कई बार मरुत्तव, मरुत्तव, कहने से देवताओं ने उस पुत्र का नाम 'मरुत्त' रख दिया। ऐसे सुन्दर पुत्र को पाकर कुमार अवीक्षित् बड़े प्रसन्न हुए। वे अपनी पत्नी और पुत्र को लिये हुये गन्धर्वों के साथ अपने पिता की राजधानी में आये। उस समय महाराज करन्धम राज सभा में बैठे थे। कुमार अवीक्षित् ने अपनी पत्नी के सहित आकर महाराज के चरणों में प्रणाम किया और उनकी गोद में पुत्र देते हुए कहा—"महाराज! माता के किमिच्छक व्रत के समय जो वस्तु मैंने देने की प्रतिज्ञा की थी, उसे आप ग्रहण करें।"

राजा उस इतने सुन्दर पौत्र का मुख देखकर अवाक् रह गये, फिर उन्हें संशय हुआ कि मेरा पुत्र कहीं ऐसे वैसे वंश की लड़की से तो विवाह नहीं कर लाया है। राजा के भाव को समझ कर कुमार आदि से अन्त तक सम्पूर्ण वृत्तान्त यथा

वत् सत्य सत्य सुना दिया। सब बातें सुन कर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। आनन्द के कारण उनके नेत्रों में अश्रु छलकने लगे। वे बार बार अपने पौत्र के मुख को चूमने लगे। उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी, मेरे राज्य भर में उत्सव मनाया जाय। पौत्र प्राप्ति के उपलक्ष में सम्पूर्ण नगर सजाया जाय भिक्षुकों और आश्रितों को यथेच्छ दान दिया जाय। जब रानी वीरा ने यह समाचार सुना तो वे आनन्द में विभोर हो गईं। अपनी पुत्र वधू को गोद में बिठाकर उसे बार बार प्यार किया। पौत्र के सिर को सूघा उसके मुख को चूमकर उसने अपने जीवन को सार्थक समझा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप ने कुमार अवीक्षित् और वैशालिनी की कहानी कही। जैसा दुख वैशालिनी को हुआ वैसा किसी शत्रु को भी न हो और जैसे दिन अवीक्षित् और वैशालिनी के फिरे वैसे सब काहू के फिरे।

यह सुनकर शौनक जी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने बड़ा ही अद्भुत आख्यान सुनाया। अब हम अवीक्षित् के पुत्र महाराज मरुत्त का चरित्र और सुनना चाहते हैं। महाराज मरुत्त तो बड़े ही यशस्वी और धर्मात्मा हो गये हैं। हमने ऐसा सुना है, कि मरुत्त के समान वैभवशाली यज्ञ आज तक किसी भी राजा ने नहीं किया।"

सूतजी कहते है—"भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। अवीक्षित् सुत महाराज मरुत्त अपने पुण्यों के प्रभाव से संसार में अब तक विख्यात हैं। उनके यज्ञ की अब तक प्रशंसा की

जाती है। अब मैं महाराज मरुत का पवित्र चरित्र आपके सम्मुख कहूँगा, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

नहिं कन्या वर अपर-बस्यो तप महँ चित दीयो।
इत व्रत वीरा मातु 'किमिच्छक' सुतहित कीयो॥
पितु ने माँगी भीख पौत्र की सुत स्वीकारी।
तोरि प्रतिज्ञा वरी कुमर ने राज कुमारी॥
कुमर और वैशालिनी, धर्म सूत्र महँ बँधि गये।
गये लोक गन्धर्व महँ, सुत मरुत्त तिनके भये॥

मरुत्त चरित्र

(६०२)

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन।
सर्वं हिरण्मयं त्वासीद्यत्किंचिच्चास्य शोभनम् ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभि द्विजातयः।
मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥*

(श्री भा० ९ स्क० २ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

दयो करन्धम राज अवीक्षित् नहिं स्वीकारयो।
राज्य करूँ नहिँ कबहुँ समर शत्रुनि तें हारयो ॥
राजा करे मरुत्त करन्धम वनहिँ सिधारे।
नागनि मुनि गन डसे मरुत ने शस्त्र सम्हारे ॥
नाग अवीक्षित् शरन महँ, गये अभय तिनकूँ दई।
सुत पितु महँ अहि विषय पै, तनातनी भारी भई ॥

आर्य शास्त्रों में कर्तव्य की बड़ी महिमा है, कर्तव्य के

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अवीक्षित् सुत महाराज मरुत्त का जैसा यज्ञ हुआ वैसा आज तक किसी का नहीं हुआ। उस यज्ञ में भी कुछ सामग्री थी सभी सुन्दर सुवर्ण की थी। उस यज्ञ में इन्द्र सोमपान से और ब्राह्मण आवश्यकता से भी अधिक दक्षिणा पाकर उन्मत्त हो गये थे। उस यज्ञ में भोजन स्वयं मरुद्गण परोसते थे और स्वयं विश्वेदेवा उस यज्ञ के सभासद् थे।"

सम्मुख माता, पिता, स्वजन, बन्धु बान्धव तथा सुहृद् कोई कुछ नही जो हमें कर्तव्य से पराङ्मुख करे वह सगा सम्बन्धी भी त्याज्य है। जो हमें कर्तव्य सिखावे वह शत्रु भी माननीय है। शुक्राचार्य बलि को कर्तव्य से डिगाना चाहते थे, उससे झूठ बुलवाना चाहते थे, गुरू होने पर भी बलि ने उन्हें त्याग दिया। उन्हें त्यागकर शाप और संताप सभी सहर्ष सहन किया ! कैकेयी भरत की जननी थी, किन्तु वह अधर्म का पाठ पढ़ा रही थी, भरत को लोभ देकर फुसला रही थी। महामना भरत ने उनका त्याग कर दिया। प्रह्लाद का पिता अपने पुत्र को प्रभु से पराङ्मुख कर रहा था, उसे भगवत भजन से रोक रहा था। जीव के प्रधान कर्तव्य को करने से मना कर रहा था। प्रह्लाद जी ने उसकी बात नहीं मानी। कैकेयी अपने पति से अनुचित कार्य कराना चाहती थी। बड़े बेटे के रहते छोटे को सिंहासन पर बिठाना चाहती थी, राजा को धर्मपाश में बाँध लिया था, राजा ने सत्य का त्याग नहीं किया। स्त्री को त्याग दिया और प्राणों का भी परित्याग किया। माता को मारना; भाइयों को मारना पाप है, किन्तु पिता की आज्ञा श्रेष्ठ समझकर परशुराम ने यह भी किया। सारांश इतना ही है, कि जिसने जिसे अपना प्रधान कर्तव्य समझ रखा है, उसके सम्मुख वह अन्य गौण कर्तव्यों को छोड़ देता है। कर्तव्य पर सब कुछ निछावर कर देता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज करन्धम पौत्र का मुख देखकर बड़े प्रसन्न हुए, वे कुमार मरुत्त का बड़े स्नेह से लालन पालन करने लगे। जब यह समाचार वैशालिनी के पिता महाराज विशाल ने सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए। अपने जामाता, पुत्री तथा धेवते को देखने के निमित्त वे आये। आज

अपनी पुत्री को राजरानी पुत्रवती देखकर उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वैशालिनी रोते रोते अपना पिता से लिपट गई। पिता ने भी साश्रु नयनों से पुत्री का सिर सूंघा और गद् कंठ से उसे धैर्य धराया। अपनी पुत्री के पुत्र कुमार मरुत्त को देखकर महाराज विशाल परम प्रसन्न हुए। मरुत्त देखने में देवताओं से भी अधिक सुन्दर थे। तेजस्विता में उनके सम्मुख सूर्य भी फीका लगता था। कुछ दिन अपनी पुत्री के यहाँ रह कर तथा सभी को बहुत से वस्त्राभूषण देकर महाराज विशाल अपनी राजधानी को चले गये।

इधर कुमार मरुत्त शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य प्रति बढने लगे। उनमें सभी गुण विद्यमान थे। वे मातृ-पितृ भक्त थे, अपने पितामह की सभी आज्ञाओं को वे श्रद्धा सहित सिर भुका कर पालन करते थे। उन्होंने विधिवत अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा पाई थी। वे सौभाग्यशाली, शूरवीर, सुन्दर, सुशील, सदाचारी, सर्व प्रिय, सर्व दर्शी, सरल, शान्त, विनयी, बुद्धिमान् तथा विवेकी थे। अपने पितामह की संरक्षता में कुमार मरुत्त अब युवक हो गये थे। वे पितामह राज काज में भी उनका हाथ बँटाते थे।

जब महाराज करन्धम वृद्ध हो गये तब एक दिन उन्होंने अपने पुत्र अवीक्षित को बुलाकर कहा—"बेटा! अब मैं बूढा हो चला हूँ। सहस्रों वर्षो तक मैंने धर्म पूर्वक इस आसमुद्रान्त वसुन्धरा का पालन किया, दान दिये, यज्ञ किये। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सांसारिक सुख भोगे। तुम जैसे धर्मात्मा पुत्र को पाया। दुर्लभ पौत्र का भी मुख देखा। वह भी अब युवक हो गया। अब मेरे लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। हमारे

कुल का यह सनातन सदाचार है, कि वृद्धावस्था में कोई घर नहीं रहते। खाट पर पड़े पड़े प्राण नहीं त्यागते। हमारे पूर्वज सभी वृद्धावस्था में राज्य छोड़कर तप करने वन को चले जाते हैं। मैं भी अपने पूर्वजों के पद चिह्नों का अनुकरण करूँगा। अब इस विशाल राज्य को तुम सम्हालो। मेरी इच्छा है, कि आज ही मैं तुम्हारा राजतिलक करके तपस्वियों के आश्रमों की ओर प्रस्थान करूँ?"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! मैं आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करता आया हूँ किन्तु मैं आपसे नम्रता पूवक निवेदन करता हूँ कि महाराज विशाल के यहाँ जो वैशालिनी के स्वयंवर में शत्रुओं ने मुझे परास्त कर दिया, उसकी लज्जा मेरे मन से अभी तक नहीं गई है। अतः मैं राज्य नहीं करूँगा।"

पिता ने बड़े स्नेह से कहा—"बेटा ! युद्ध में तो कभी जय होती है कभी पराजय। तुम विशुद्ध राज्य वंश में उत्पन्न हुए हो। एकमात्र तुम्हीं इस राज्य के अधिकारी हो, ऐसी दुर्बलता मत दिखाओ; धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो, क्षत्रिय धर्म को निभाओ।"

अत्यन्त ही नम्रता के साथ अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सका वह प्रजा की क्या रक्षा करेगा। मुझे तो आपने अपने बल पराक्रम से जाकर छुड़ाया था। मेरा अपना तो कोई बल रहा ही नहीं था। ऐसा अयोग्य राजा प्रजा का पालन कैसे कर सकता है।"

महाराज करंधम ने बड़े स्नेह से कहा—"अरे ! तू तो बड़ा पगला है भैया ! पिता और पुत्र में कोई अन्तर होता है

क्या। पिता ही स्वयं पुत्र बनकर स्त्री के उदर से उत्पन्न होता है, इसीलिये पुत्रवती पत्नी को जाया कहते हैं। वेदों में पुत्र को पिता की आत्मा ही बताया है। अपने मन से ग्लानि को निकाल दो, राजसिंहासन पर बैठो और धर्मपूर्वक राजकाज सम्हालो।"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! आपका कहना यथार्थ है। किन्तु जो पुत्र समर्थ हो गया है उसका स्वयं भी कुछ कर्तव्य होता है। समर्थ होकर भी जो पिता की कमाई हुई सम्पत्ति पर ही निर्भर रहता है स्वयं कुछ कमाता नहीं, वह सम्पत्तिशाली श्रेष्ठ पुत्र नहीं। जो पिता के बल से सकट से मुक्ति पाता है, वह बलवान् नहीं। जो पिता के नाम से ख्याति पाता है, वह प्रख्यात पुरुष नहीं।"

पिता ने कहा—"भैया ! अरे, इसमें लज्जा की कौन सी बात है, तुम स्वयं शूरवीर, विनयी और गुणी हो। राज्य को सम्हालो। पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का दायभाक् होता है। उसे पिता की समस्त मम्पत्ति पर स्वत ही अधिकार प्राप्त है।"

अवीक्षित् ने कहा—"पिताजी ! योग्य पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है। जो स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से धनोपार्जन मे समर्थ है, जो स्वयं ही अपने बल पौरुष से संकटों से विमुक्त हो सकता है, जो स्वयं ही अपने गुणों से ख्याति प्राप्त कर सकता है, वही सच्चा पुत्र है। मै तो समर मे हार गया था, शत्रुओं ने मुझे बांध लिया था, आप मुझे छुडाकर लाये। ऐसा अयोग्य पुत्र कभी राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। मैं तो विवाह भी न करता, किन्तु आपने मुझे वचनों में बांध लिया मुझे किंकर्तव्य विमूढ़ बना दिया। प्रतिज्ञा पालन के

भय से मैंने आपको पौत्र लाकर दिया। अब आप मुझसे अधिक आग्रह न करें। मैं किसी भी प्रकार राज्य को ग्रहण न करूंगा। आप जिसे चाहें राजा बना दें, मैं राज्य सिंहासन पर कभी न बैठूंगा।"

महाराज करन्धम तो सब समझते ही थे, कि यह जिस बात की प्रतिज्ञा कर लेता है, फिर उसे पूरा ही करके छोड़ता है। कोई भी इसे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं कर सकता। अतः उन्होंने फिर आग्रह न किया। अपने सर्वगुण सम्पन्न युवक पौत्र को उन्होंने विधि विधानपूवक राज्य तिलक देकर गद्दी पर बिठा दिया। पौत्र को राज्यभार सौंपकर महाराज करन्धम अपनी रानी वीरा के साथ वन को चले गये और और्वऋषि के आश्रम पर मुनियों के व्रतों का पालन करते हुए घोर तपस्या करने लगे। कालान्तर मे महाराज करन्धम इस शरीर को त्यागकर स्वर्ग में चले गये और वहां दिव्यदेह से दिव्य सुखों का उपभोग करते हुए यथाविधि निवास कर रहे हैं। मुनियों के बहुत कहने और समझाने से महाराज करन्धम की पत्नी वीरा उनके साथ सती हुई। वे अपने सिर पर जटायें रखा कर केवल फलफूल खाकर घोर तपस्या करने लगीं। भार्गव मुनि के आश्रम पर विप्र पत्नियों के साथ रहकर तपस्विनियों का सा जीवन बिताने लगीं और विप्र पत्नियों की सेवा सुश्रूषा करते हुए काल यापन करने लगीं।

इधर महाराज मरुत्त धर्म पूर्वक पृथिवी का पालन करने लगे। वे बड़े प्रतापी हुए अपनी प्रजा में और पुत्रों मे वे कोई भेद भाव नही रखते थे। इन्होंने ऐसे ऐसे यज्ञ किये कि उनका यश दिग दिगन्तों में व्याप्त हो गया। पृथिवी के राजाओं

तो बात ही क्या स्वर्ग के राजा इन्द्र भी उनके ऐश्वर्य को देखकर उनसे ईर्ष्या करते थे। यहाँ तक की ईर्ष्यावश उन्होंने वृहस्पति को मरुत्त का यज्ञ करने से रोक दिया था। तब महाराज वृहस्पति के भाई अवधूत संवर्त के पास गए। संवर्त ने उनसे ऐसा अलौकिक यज्ञ कराया कि आजतक ऐसा यज्ञ किसी का हुआ हो नहीं। उनके यज्ञ के सम्बन्ध में सर्वत्र यह पौराणिकी गाथा गाई जाने लगी। गायक लोग जाकर कहते "महाराज मरुत्त के सदृश उदार यजमान इस अवनि पर अन्य कोई हुआ नहीं। जिनके यज्ञ में समस्त यज्ञ मंडप, महल तथा यज्ञादि पात्र शुद्ध सुवर्ण के ही बने थे। जिनके यज्ञ में ब्राह्मण पर्याप्त दक्षिणा पाकर पूर्ण तृप्त हो गये। मरुद्गण तथा इन्द्रादि देव सेवकों की भाँति जिनके यज्ञ में ब्राह्मणों को भोजन परोसते थे। राजा मरुत्त के यज्ञ में जैसा समारोह हुआ था, वैसा किसी राजा के यज्ञ में नहीं हुआ है, जहाँ रत्नों से भवन भरे रहने के कारण ब्राह्मणों ने दक्षिणा का द्रव्य त्याग दिया था। उस छोड़े हुए धन को पाकर कितने ही राजाओं का मनोरथ पूर्ण हुआ। उसी धन से अनेक राजाओं ने अपने अपने देशों में अनेक यज्ञ कराये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज मरुत्त के यज्ञ के अवशिष्ट धन से ही धर्मराज युधिष्ठिरने इतने भारी भारी तीन अश्वमेध यज्ञ किये जिसकी कथा मैं पीछे आप को सुना ही चुका हूँ। इन धर्मात्मा राजा का यश अभी तक तीनों लोकों में व्याप्त है। ये इतने न्याय प्रिय और प्रजा वत्सल थे, कि प्रजा पालन के कर्तव्य वश होकर ये अपने पिता अवीक्षित् से भी युद्ध करने को उद्यत हो गये! और अस्त्र शस्त्र लेकर उनके सामने अड़

यह सुनकर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! धर्मात्मा महाराजा मरुत्त अपने पिता से किस कारण युद्ध करने को उद्यत हो गये। ऐसी कौन सी विचित्र घटना हो गई, कृपा करके इसे हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! जिन दिनों प्रजावत्सल महाराज मरुत्त धर्मपूर्वक राज्य शासन कर रहे थे। उन्हीं दिनों जहाँ उनकी पितामही रहकर तपस्या करती थीं, वहाँ ऋषियों के आश्रम में पाताल लोक से कुछ नागों ने आकर दस मुनियों को डस लिया।

नागों की ऐसी धृष्टता देखकर स्वर्गीय महाराज करन्धम की पत्नी तपस्विनी वीरा को बड़ा दुःख हुआ। वे चक्रवर्ती की पत्नी थीं। तपस्या में निरत थी। अतः क्रोध तो कर ही नही सकती थीं। इसीलिये उन्होंने एक मुनि से कहा—"तुम राजधानी में जाकर मेरे पौत्र मरुत्त से जाकर कहो, तेरा राज्य प्रबन्ध कुछ भी अच्छा नहीं। अरे, दस तपस्वियों को पाताल से आकर नागों ने डस लिया और उसे अभी तक इस घटना का पता तक नहीं है। राजा के नेत्र तो गुप्तचर होते हैं, जो इन्हें क्षण क्षण की बातें बताते रहते हैं। प्रतीत होता है ? मरुत्त के गुप्तचर अच्छे नहीं। वह विषय भोगों में फँस गया, तभी उसके राज्य में तपस्वियों के साथ ऐसा अन्याय हो रहा है। कृपा करके आप उसके पास जायें और उसे मेरा यह संदेश सुनायें, कि वह असावधानी को छोड़े और सावधानी से प्रजा पालन करे प्रजा को क्लेश देने वाले शत्रुओं से बदला ले।"

महारानी वीरा की बात सुनकर तपस्वी महाराज मरुत्त के समीप गये और उन्हें जाकर तपस्विनी वीरा का सब संदेश

सुना दिया। सुनकर महाराज मरुत्त बड़े व्याकुल हुये। उन्होंने डरते डरते पूछा—"मुनिवर! नाग तो बिना पूछे किसी को काटते नहीं। मुनियों को उन लोगों ने क्यों काट लिया?"

मुनि ने कहा—"हे पृथिवीपति! नाग दुष्ट तो होते ही हैं, एक दिन वे भेष बदल कर आये। दस मुनि एक स्थान पर बैठे शास्त्र चर्चा कर रहे थे। उनमें से एक ने आकर पूछा—"मुनियो! आप सब कितने हैं मुनियों ने कहा—'दश' दश का अर्थ दश संख्या भी है और 'दश' का अर्थ काटना भी है। अर्थात् काटो, यह सुनकर सबने उन्हें काट लिया। वे सब मर गये। तब आपकी पितामही ने मुझे आपके समीप भेजा है। आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

मुनि के मुख से नागों की ऐसी दुष्टता की बात सुनकर महाराज मरुत्त को बड़ा क्रोध आया। विशेष कर इसलिये भी वे डरे कि मेरी पितामही ने मुझे अयोग्य राजा सिद्ध कर दिया है वे तुरन्त दिव्य अस्त्र लेकर धनुष बाणों से सुसज्जित होकर भार्गव और्व मुनि के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ पहुंच कर उन्होंने मुनियों और मुनिपत्नियो को श्रद्धा सहित प्रणाम किया, पुन: अपनी पितामही के लज्जा के साथ पैर छुए। आज बहुत दिन में अपने पौत्र को देखकर तपस्विनी वीरा का कंठ अवरुद्ध हो गया। उसने प्रेम पूर्वक मरुत्त का माथा सूंघा। तपस्वियों ने महाराज को आशीर्वाद दिये और उनका अभिनन्दन किया।

मरुत्त ने बाहर आकर देखा नागों से डसे मुनि मरे हुए पड़े हैं। तब क्रोध के कारण उनके नेत्र लाल हो गये। धनुष

पर उन्होंने संवर्तक नामक दिव्य अस्त्र चढ़ाते हुए कहा—"आज संसार मेरे पराक्रम को देखे। मैं आज नागों को दुष्टता का फल चखाऊँगा। उन्हें स्त्री बच्चे और परिवार के सहित मैं यमसदन पठाऊँगा। आप समस्त नागलोक के नागों का मैं संहार कर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऐसा संकल्प करके ज्यों ही मरुत्त ने संवर्तक अस्त्र का प्रयोग करना चाहा, त्योंही पृथिवी काँपने लगी। नागलोक में हाहाकार मच गया। नाग अपना कोई भी रक्षक न देखकर इधर उधर भागने और चिल्लाने लगे।"

जिन दिनों मरुत्त के पिता अवीक्षित् अपनी पत्नी वैशालिनी के साथ गन्धर्व लोक में थे, और जब वायु सेवनार्थ नागलोक गये थे। तब नाग पत्नियों के साथ वैशालिनी का बड़ा स्नेह हो गया था।

नाग पत्नियों ने प्रेम में भर कर कहा था—"तुम जब राजरानी हो जाओगी, तब हमें काहे को पूछोगी?"

वैशालिनी ने कहा था—"बहिनो! ऐसी बात नहीं है तुम तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारी हो। तुम्हें जब भी काम हो; मेरे महलों में चली आना। मेरा घर तुम्हारा ही घर है।"

आज जब नागों पर वैशालिनी के पुत्र के ही कारण घोर आपत्ति आई, तो वे अपने पतियों के साथ मनुष्य वेष बनाकर वैशालिनी के महलों में गईं और रो रो कर अपना सब दुःख सुनाया।

दयावती वैशालिनी नाग पत्नियों के दुःख तथा कुल के

विनाश की बात सुनकर बड़ी दुःखी हुई और उन्हें आश्वासन देती हुई बोली—"बहिनो! तुम डरो मत। मैं तुम्हारी अवश्य रक्षा करूँगी। जो समर्थ होने पर भी शरणागत की रक्षा नहीं करते उन्हें निश्चय ही नरकों में जाना पड़ता है।"

यह सुनकर नागों को कुछ धैर्य हुआ, वैशालिनी तुरन्त अपने पति के समीप पहुँची और बोली—"प्राणनाथ! आपके पुत्र ने नागों पर बड़ा कोप किया है। ये नाग पत्नियाँ रोती हुई मेरी शरण में आई हैं और मैंने इन्हें अभय दान भी दे दिया है। जो मेरी बात है, वह तुम्हारी भी बात है, जो मेरा शरणागत है, वह आपका भी शरणागत है, क्योंकि शास्त्रों में पत्नी को *सहधर्मिणी और अर्धाङ्गिनी कहा है।* मेरा धर्म आपसे पृथक् नहीं है। मैं स्वयं आपकी शरण में हूँ अतः जैसे बने तैसे आप इन सबकी मरुत्त के अस्त्र से रक्षा कीजिये।"

अपनी पत्नी की ऐसी बात सुनकर अवीक्षित् बोले—"प्रिये! मरुत्त राजा है। वह प्रजा पालन में स्वतन्त्र है। मैं तो एक प्रकार से उसकी प्रजा हूँ। प्रजा पालन में मैं हस्तक्षेप कैसे कर सकता हूँ, मरुत्त अकारण क्रोध करने वाला तो है नहीं। अवश्य ही इन नागों ने कोई घोर अपराध किया होगा, तभी तो वह इनके नाश पर उतारू हो गया है।

वैशालिनी ने कहा—"कुछ भी हो, प्राणनाथ! आपको मेरी यह हठ तो पूरी करनी ही पड़ेगी।"

अवीक्षित् ने कहा—"देखो, तुम मुझसे व्यर्थ हठ मत करो तुम्हारा पुत्र बड़ा हठी है। यदि उसने मेरी बात न मानी तो

मुझे उससे युद्ध करना पड़ेगा। वह राजा है, राजा की आज्ञा का भंग करना उसका अशस्त्र वध ही है।

राजा की यह बात सुनकर अत्यन्त दीनता के साथ नागों ने कहा—"देव! हम आपकी शरण में आकर भी अभय प्राप्त न कर सके, तो बड़े दुःख की बात है। क्षत्रिय का परम धर्म यही है, कि दीन दुखियों के दुखों को दूर करे, भय भीतों को अभय प्रदान करें और शरण में आये हुओं का प्रतिपालन करें। महाराज! आप हमारी रक्षा न करेंगे तो शरणागत को त्यागने में जो दोष लगता है, वह आपको लगेगा।"

नागों की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर अवीक्षित् का हृदय भी पसीज गया। इधर अपनी प्राणप्रिया का भी अधिक आग्रह देखा। तब उन्होंने नागों को अभय दान देते हुए कहा—"अच्छी बात है, मैं अभी मरुत्त के निकट जाता हूँ और उससे संवर्तक नामक अस्त्र को लौटाने के लिये आग्रह करता हूँ। यदि उसने मेरे कहने से अस्त्र न लौटाये, तो मैं अपने दिव्य अस्त्रों से उसके अस्त्रों को व्यर्थ कर दूँगा और युद्ध के लिये उसे ललकारूँगा।" इतना कह कर वह अपनी पत्नी को साथ लिये हुये दिव्य रथ पर चढ़कर तुरन्त धनुष बाण लिये हुए और्वमुनि के आश्रम पर पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा मरुत्त अपने हाथों में एक विशाल धनुष लिये हुए, एक पैर को आगे और एक को पीछे करके भौहों को ताने हुए, क्रोध से लाल लाल नेत्र किए, सुमेरू के शिखर के समान अविचल भाव से खड़ा है। उसने संवर्तक नामक दिव्यास्त्र को छोड़ दिया है। उसमें से प्रचंड लपटें निकल रहीं हैं, सम्पूर्ण आकाश मंडल प्रकाश से व्याप्त है, अग्नि की लपटें

पाताल तक पहुँची हुई हैं, दशों दिशायें प्रज्वलित हो रही हैं। पाताल लोक के प्राणियों का हाहाकार और चीत्कार यहाँ तक सुनाई दे रहा है।" इस अनर्थ को अपनी आँखों से देखकर अवीक्षित् ने शीघ्रता से कई बार कहा—"मरुत्त! मरुत्त तुम अपने इस भयंकर दिव्यास्त्र को अभी तुरन्त लौटा लो, विलम्ब मत करो। नागों का संहार करना उचित नहीं।"

अपने पिता की इस बात को सुनकर मरुत्त ने गम्भीर होकर पीछे देखा। उन्होंने अपने माता पिता को देखकर सहसा वहीं से प्रणाम किया और निर्भय होकर कहा—"पिता जी! मेरे शासन में भी नागों का ऐसा साहस जो तप में निरत मुनियों को डस लें। मैं इन दुर्मद दुष्ट नागों को जीवित न छोड़ूँगा।"

अवीक्षित् ने कहा—"भैया! राजा को इतना क्रोध न करना चाहिये। किसी नाग ने किया होगा उसे क्षमा कर दो।"

वीरता के साथ मरुत्त ने कहा—"पिताजी! आपको पता नहीं इन दुष्टों की दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच गई है। इन्होंने दश मुनि कुमारों को काट लिया है। मुनियों के हविष्यों को दूषित कर दिया है। इनके जलाशय को विषैला बना दिया है। ये सब के सब ब्रह्मघाती और दुष्ट हैं। इनका वध करना ही इनकी दुष्टता का एक मात्र दण्ड है।"

अवीक्षित् ने कहा—"जो हुआ सो हुआ! उसे जाने दो। अब ये मेरी शरण में आ गये है। मैंने इन्हें अभय दान दे दिया है। अतः इनका मारना अब उचित नहीं, अपने दिव्य अस्त्र को तुम तुरन्त लौटा लो, नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा।

दृढ़ता के स्वर में मरुत्त ने कहा—"देखिये, पिता जी! आप मेरे शासन में हस्तक्षेप न करें। मैं इन दुष्टों को मारूँगा, अवश्य मारूँगा, आप इस सम्बन्ध में मुझ से कुछ भी न कहें।"

यह सुनकर क्रोध के स्वर में अवीक्षित् ने कहा—"देखिये राजन्! ये सर्प मेरी शरण में आये है। मैंने इन्हें अभय दान दिया है। मैं तुम्हें इनके वध के लिये मना कर रहा हूँ। फिर भी तुम मेरी बात नहीं मानते, तुम अपने को बड़ा भारी शूरवीर योद्धा लगाते हो। मैं भी क्षत्रिय हूँ, मैंने भी विधिवत् अस्त्रों शस्त्रों की शिक्षा पाई है। यदि तुम सीधे से न मानोगे, त टेढ़े से मानना पड़ेगा। मैं अपने शस्त्रों से तुम्हारे अस्त्रों को व्यर्थ बनाता हूँ? तुम मेरी अस्त्र विद्या को देखो।"

इतना कहकर क्रोध में भर कर अवीक्षित् ने अपने दिव्य धनुष पर कालास्त्र चढाया। यह कालास्त्र संवर्तास्त्र से भी भयकर था। इसके संधान करते ही, समस्त शैल कानन और समुद्रों से पूर्ण पृथिवी काँप उठी। सभी प्राणी हाहाकार करने लगे।

कालास्त्र को देखकर मरुत्त तनिक भी भयभीत या विचलित नहीं हुए। वे हँसते हुए बोले—"पिता जी! मैंने तो अपना संवर्तास्त्र दुष्ट नागों के ऊपर चलाया है। आपको तो मैं मारना नहीं चाहता, आप से तो मेरी शत्रुता नहीं है। फिर आप मुझे शत्रु समझ कर मारने के लिये मेरे ऊपर प्रहार क्यों कर रहे हैं। मुझे कालास्त्र छोड़कर क्यों मारना चाहते है?"

अवीक्षित् ने कहा—"देखो, नाग मेरी शरण में आये हैं। क्षत्रिय का धर्म है, कि चाहे अपना शत्रु ही क्यों न हो, यदि वह

शरण में आ जाय, तो उसकी रक्षा करनी चाहिये। जो सामर्थ्य रहते शरणागत की रक्षा नहीं करता उसकी शूरवीरता, सामर्थ्य, वल, पौरुष, कुलीनता, सभी को धिक्कार है। अतः राजन्! इन नागों की रक्षा का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। तुम इस में विघ्न डाल रहे हो, अतः तुम मेरे शत्रु हो, मैं तुम्हें जीवित न छोड़ूँगा। अभी तुम्हें मार कर अपने शरणागतों की रक्षा करूँगा।"

मरुत्त ने दृढ़ता के साथ कहा—"पिताजी! जब कोई शत्रुभाव से क्षत्रिय पर प्रथम प्रहार करे और उसे युद्ध के लिये ललकारे तो फिर चाहे वह पिता, भ्राता, सुहृद, गुरु, अथवा सगा सम्बन्धी कोई भी क्यों न हो वीर क्षत्रिय को उसके साथ युद्ध करना ही चाहिये। यदि आप शत्रु समझ कर मुझ पर पहिले से प्रहार करते हैं, कीजिये, मैं भी आपके अस्त्रों का उत्तर अस्त्रों से दूँगा प्रहार करने पर उसके उत्तर में मैं भी आप पर प्रहार करूँगा। केवल धर्म की रक्षा के लिये, क्षत्रियत्व की मर्यादा के लिये, कर्तव्य पालन की दृष्टि से मैं ऐसा कार्य करूँगा। आपका गौरव मेरे हृदय में ज्यों का त्यों बना रहेगा।" यह कह कर मरुत्त भी धनुष तान कर खड़े हो गये।

ऋषियों ने देखा, यह तो बड़ा अनर्थ होना चाहता है। अतः वे सब के सब आकर पिता पुत्र के बीच में खड़े हो गये और अपनी भूरी भूरी जटाओं को हिलाते हुए, हाथों को ऊपर

उठाते हुये कहने लगे—"हमारा गौरव मान कर तुम आपस में युद्ध मत करो। मरुत्त से बोले—"राजन् ! आपको अपने पिता के ऊपर प्रहार करना शोभा नहीं देता आप ऐसा अनर्थ न करें।"
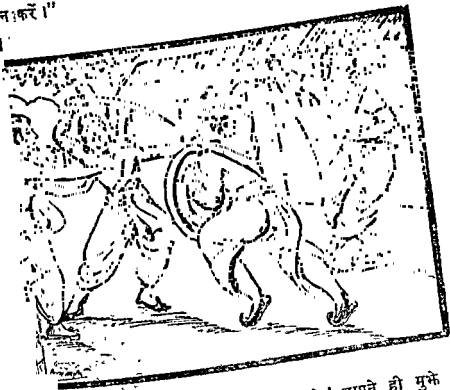
हाथ जोड़कर मरुत्त ने कहा—"महर्षियो ! आपने ही मुझे राज सिंहासन पर बिठाया है। आपने ही मुझे शिक्षा दी है कि मैं साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करता रहूं। मैं वही कर रहा था, पिता जी ने अकारण आकर मेरे कार्य में हस्तक्षेप किया। मैं क्षत्रिय धर्म से विचलित कैसे हो सकता

हूँ ? जब ये मेरा अस्त्र लेकर वध करने को ही उद्यत हो गं तो मैं भी क्षत्रिय धर्म का पालन करूँगा।"

महर्षियों ने अवीक्षित् से कहा—"राजन् ! आपकी अप इकलौते सिंहासनासीन पुत्र पर प्रहार करना शोभा नहीं देता राजन् ! ये धर्मात्मा मरुत्त अपने कर्त्तव्य का पालन मात्र क रहे हैं।"

अवीक्षित् ने कहा—"महर्षियो ! आप सब जानते हैं, शर णागत का परित्याग कितना बड़ा पाप है। क्षत्रिय को शरण आये हुए पुरुष की रक्षा प्राण देकर भी करनी चाहिये। मैं अपने धर्म का पालन कर रहा हूँ। धर्म पालन में यदि पु विघ्न डाले, तो उसका वध करने में कोई दोष नहीं।"

महर्षियों ने कहा—"अच्छी बात है, हम एक बीच बचाव किये देते हैं। ये नाग कह रहे हैं कि हम सब के सब तो दुष्ट हैं नहीं। हमारी जाति के कुछ दुष्ट नागों ने आकर मुनियों को डस लिया है। हम उनके शरीर से विष खींचकर उन्हें जीवित किये देते है। आगे से हम ऐसी घटना फिर न हो, इसकी सतत चेष्टा करते रहेंगे।" जब ये ऐसा कहते हैं तब तो क्रोध करने की कोई बात नहीं रह जाती। मरे हुए मुनि जीवित हो जायँ, तो महाराजमरुत्त अपने अस्त्र का उपसंहार कर लें।" उसी समय अवीक्षित् की माता तपस्विनी वीरा जो वहाँ मुनि पत्नियों में खड़ी हुई सब सुन रही थी, आगे आकर अपने पुत्र से बोली—"बेटा ! मरुत्त को मैंने सन्देश भेजकर बुलाया था। मेरे ही कहने से वह यहाँ आया था। यदि नाग मुनियों को जीवित कर देते हैं। तब तो वाद विवाद के लिये कुछ रह ही नहीं जाता, मरुत्त का साधु रक्षण कार्य भी हो जायगा और तुम्हारा शरणागतवत्सल नाम भी

सार्थक हो जायगा। तुम दोनों युद्ध का विचार छोड़ दो।" तपस्विनी वीरा की ऐसी बात सुनकर पिता और पुत्र दोनो ने उसका अभिनन्दन किया। नागों ने मरे हुये मुनियों का विष खींचकर जीवित कर दिया। मरे हुए मुनियों को जीवित देख कर मुनिमंडली में आनन्द छा गया। मरुत्त ने अपना संवर्त-कास्त्र संवरण कर लिया। फिर उसने आकर अपनी पितामही के पैर छूए। माता पिता के चरणों में भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। पुत्र को देखकर अवीक्षित् की आँखों में प्रेम के अश्रु आ गये। उन्होंने अत्यन्त स्नेह से मरुत्त को छाती से चिपकाते हुए कहा—"वत्स! तुम चिरंजीवी हो। इसी प्रकार धर्म पूर्वक प्रजा का शासन करते रहो। मैं तुम्हारी दृढ़ता शूरवीरता तथा साधु संरक्षण कार्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। तुम सदा शत्रुओं का मान मर्दन करते रहो। सप्तद्वीपा वसुन्धरा के तुम एक मात्र अधिपति हो।"

अपने पिता से ऐसे आशीर्वाद पाकर महाराज मरुत्त अत्यन्त प्रसन्न हुये। मुनियों ने मरुत्त और अवीक्षित् दोनों ही राजर्षियों का अभिनन्दन किया। ऋषि मुनियों से सत्कृत होकर तथा उनकी आज्ञा लेकर पिता माता के साथ मुनियों और तपस्विनी वीरा को प्रणाम करके महाराज मरुत्त रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी को चले गये।

इधर वीरा भी चिरकाल तक घोर तप कर के अन्त में तनु त्याग कर परलोक में जाकर अपने पति से मिल गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में महाराज मरुत्त का चरित्र कहा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! महाराज मरुत्त के पुत्र कौन हुए ? यदि उनका भी कोई उत्तम चरित्र हो तो हमें सुनाइये ।

सूतजी बोले—"मुनियो ! कोई कोई तो कहते हैं मरुत्त के नरिष्यन्त आदि १८ पुत्र हुए और नरिष्यन्त के पुत्र दम हुए किन्तु इस भागवती कथा के प्रसंग में तो मरुत्त के पौत्र नहीं पुत्र ही दम हुए। कल्प भेद से ऐसा हो जाता है। अब मैं आप को मरुत्त पुत्र दम का चरित्र सुनाऊँगा। आप सब इसे प्रेम पूर्वक श्रवण करें"

छप्पय

नृप नागनि के हेतु अस्त्र संवर्तक छोड़यो।
पिता करयो अति कोप न सुत रन तै मुख मोरयो॥
परि के ऋषिगन बीच अहिनि मुनि फेरि जिवाये।
ऐसे सुत अरु पिता समर तें मुनिनि बचाये॥
द्रव्य दान महँ व्यय करयो, बल निर्बल दुख हरन महँ।
नृप मरुत्त यश अब तलक, छायो तीनों भुवन महँ॥

★★★

दम और राज्यवर्धन का चरित्र

(६०३)

मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद् राज्यवर्धनः।
सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः॥
(श्री भा० ६ स्क० २ आ० २६ श्लोक)

छप्पय

सुत मरुत्त के पुत्र भये दम भूपति भारी।
नृप दशार्ण की सुता सुन्दरी सुमना प्यारी॥
वरे स्वयंवर माँहि अन्य कामी ललचाये।
सब मिलि कन्या हरी, कुमर दम नहिं घवड़ाये॥
करयो युद्ध सब रिपु हने, निज बल तें बालाबरो।
वैदिक विधि तें व्याह करि, सुमना प्रिय पत्नी करी॥

यदि कदाचार अभिचार बीच में अन्तराय न हो जाय तो वंश परम्परा के गुण आगामी सन्तानों में अवश्य आते हैं। माता पिता के रज-वीर्य में जीवन कण ही नहीं

✽ श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्! मरुत्त का पुत्र दम हुआ। दम का सुत राज्यवर्धन हुआ। राज्यवर्धन के सुधृति नामक पुत्र हुआ और उसके पुत्र का नाम नर हुआ!"

होते, उनमें सद्गुणों के समस्त संस्कार भी निहित रहते हैं। जो पशु ऋतुगामी होते हैं सदाचार का पालन करते हैं, उनकी सन्तानें भी ऐसी ही होती हैं। ऐसा ही सुना है कि सिंह जीवन में सिंहनी के साथ एक ही बार समागम करता है। इसीलिये सिंह के सिंह ही होता है। यदि द्वितीय बार वह करता है, तो फिर सिंह नहीं होता। प्राचीन काल में रजवीर्य शुद्धि का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता था। कुल मर्यादा बनी रहे, वंश का गौरव नष्ट न हो, स्त्रियों में कदाचार न फैलने पावे इसके लिये सतत प्रयत्न किया जाता था, इसीलिये शूरवीरों के शूरवीर ही पुत्र होते थे। सम्राट का पुत्र भी सम्राट ही होता था।

सूतजी कहते हैं— "मुनियो ! जैसे महाराज करन्धम यशस्वी, तेजस्वी और सुन्दर थे वैसे ही उनके पुत्र दृढ़ प्रतिज्ञ अवीक्षित् हुये, जिन्होंने एक बार शत्रु से पराजित होने के कारण जीवन भर राज्य नहीं किया। इस इतनी बड़ी वसुन्धरा के राज्य को तृणवत ठुकरा दिया। उनके पुत्र चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुये, जिनकी कीर्ति अभी तक तीनों भुवनों में ज्यों की त्यों व्याप्त है। मरुत्त के पुत्र दम हुये, जो पिता ही के समान शूरवीर रण विजयी तथा सुन्दर थे। इन्होंने अपने बल पौरुष से कुमारी सुमना को स्वयम्बर में धर्म पूर्वक पत्नी रूप में प्राप्त किया था।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! हमें महाराज दम का चरित्र सुनाइये। इन्होंने किस प्रकार सुमना के संग विवाह किया ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब मरुत्तनन्दन कुमार दम बड़े हुए तो इन्होने दैत्यराज वृषपर्वा से सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा पायी। दैत्यराज दुन्दुभि ने प्रसन्न होकर इन्हे दिव्य अस्त्र दिये। वशिष्ठ पुत्र शक्ति से वेद वेदाङ्गों का इन्होने विधिवत् अध्ययन किया और राजर्षि आर्ष्टिषेण से सम्पूर्ण योग विद्या प्राप्त की। इस प्रकार वे सभी विद्याओं मे पारंगत थे। सुन्दरता में इनके समान उस समय कोई भी राजकुमार नही था। वीरता तो इनकी सर्वत्र विख्यात ही थी।

उन्ही दिनों दशार्ण देश के बलवान् राजा चारुवर्मा धर्म पूर्वक पृथिवी का पालन करते थे। उनके एक सुमना नाम की परम सुन्दरी गुणवती, अद्वितीय रूप लावण्य युक्त सुकुमारी कन्या थी। जब वह विवाह योग्य हुई, तो पिता ने उसका स्वयम्बर किया। स्वयंबर मे सुमना ने दम के कण्ठ में प्रसन्नता पूर्वक जयमाला डाल दी।

उस कन्या के रूप पर मद्रदेश के राजकुमार महानन्द पहिले से ही अनुरक्त थे, वे सभी उपायों से उसे प्राप्त करने पर कटिबद्ध थे। विदर्भ देश के राजकुमार वपुष्मान् भी हृदय से उसकी इच्छा रखते थे। एक महाधनु नामक राजा का चित्त भी कन्या के सौन्दर्य के कारण उसकी ओर अत्यन्त आकृष्ट हो गया था। इन तीनों का एक ही स्वार्थ था। तीनो ने ही कुमार दम को अपना शत्रु समझा। तीनों ने सम्मति की, कि इस कन्या को जैसे भी हो, तैसे हर लेना चाहिए। इससे तो इसे छीन ही ले चलो फिर यह हम तीनों में से जिसे भी वरण करेगी, उसी की पत्नी हो जायगी।"

ऐसी सम्मति करके वे तीनों उठे और कन्या को पकड़ कर रथ मे वैठा लिया। यह देखकर कुमार दम हँस पड़े। वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके मुख पर विषाद की एक रेखा भी किसी ने नही देखी। वे अपने मंच पर खड़े हो गये और ऊपर हाथ उठाकर मेघ गंभीर वाणी से बोले—"राजाओ! मै आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। क्या यह स्वयम्वर धर्म का कार्य है या अधर्म का। यदि यह धर्म कार्य है, तो 'धर्मानुसार राजकुमारी ने मेरे कण्ठ में जय माला डाल दी है।' यद्यपि अभी वैदिक मंत्रों से हमारा उसका विधिवत् विवाह नही हुआ है, फिर भी जब यह धर्म कार्य है, तो न्यायानुसार दशार्ण नन्दिनी मेरी पत्नी हो चुकी। यदि यह धर्म कार्य न होकर नाटक है, खेल है, अधर्म कार्य है, तब मुझ से और कन्या से कोई प्रयोजन नहीं आपलोग मेरी इस वात का उत्तर दें।"

इस वात को सुनकर कन्या के पिता महाराज चारुवर्मा भी मंच पर खड़े हो गये और बोले—"नृपतिगण! आप इन राजकुमार की बात का धर्म पूर्वक उत्तर दें।"

यह सुनकर धार्मिक राजा बोले—"महाराज! स्वयम्वर क्षत्रियों के लिये परम धर्म है। कन्या ने जिसे मन से वरण कर लिया, प्रसन्न होकर जिसके कण्ठ में जय माला डाल दी। वह उसी समय उसका पति हो गया। फिर चाहे वैदिक मन्त्र पढे जायँ या न पढे जायँ, स्वेच्छा से वरण करने वाला गान्धर्व विवाह केवल क्षत्रियों के ही लिये विहित है, अन्य वर्णों के लिये नहीं। कन्या ने जब कुमार दम के कण्ठ में सब के सम्मुख जयमाला डाल दी, तो न्याय पूर्वक यह इनकी पत्नी हो गई। अव जो ये राजा कन्या को हरे ले जाते हैं ये अधर्म

का ग्राचरण कर रहे हैं। न्याय के विरुद्ध बात कर रहे हैं।"

कुमार दम ने कहा—"मैं आपसे यही पूछना चाहता था। अब मैं अपने प्राणों के रहते, अपनी पत्नी को किसी दूसरे को न ले जाने दूंगा। जिसके सम्मुख जिसकी पत्नी का अपमान हो, अन्य पुरुष उसे उसके सामने ही बुरी दृष्टि से देखें, तो उस पुरुष के जीवन को धिक्कार है। जो अपनी पत्नी की दस्युओं से रक्षा नही कर सकता उसे पति बनने का अधिकार नहीं।" यह कहकर कुमार धनुष बाण लेकर समर क्षेत्र में आ डटे। अब तो दोनो ओर से घमासान युद्ध होने लगा। कुमार दम ने कुमार महानन्द का मस्तक धड़ से पृथक् कर दिया। महानन्द के मरते ही समर क्षेत्र में भगदड़ मच गई। सब के सब राजकुमार भाग खड़े हुये। केवल कुण्डनपुर के राजा वपुष्मान् युद्ध करते रहे। अन्त में कुमार ने उन्हें भी परास्त कर दिया।

कुमार दम जब विजयी हो गये, तो दशार्ण देश के राजा चारु वर्मा ने प्रसन्न होकर अपनी सुन्दर लक्षणों वाली सुमना कन्या का विधि विधान पूर्वक उनके साथ विवाह कर दिया। सुमना को लेकर कुमार अपनी राजधानी आये। प्रजा ने उनका बड़ी धूम - धाम से स्वागत किया। कालान्तर में कुन्डनपुर नरेश वपुष्मान् ने दम के साथ पुनः दुष्टता की, इससे क्रुद्ध होकर दम ने उसको मार कर बीच से उसके दो टुकड़े कर दिये।

इन्हीं महाराज दम ने सुमना के गर्भ से राज्य वर्धक नामक बड़े तेजस्वी पुत्र हुए। इन्होंने एक ऐसा दुष्कर कर्म किया, जो किसी राजा के लिये सम्भव नहीं। ये राज्यवर्धन से भगवान् सूर्य की उपासना से आयुवर्धन हो गये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी महाराज ! राज्यवर्धन सूर्य नारायण की उपासना से आयुवर्धन कैसे हो गये इस सूर्य की भक्तिपूर्ण कथा को हमें अवश्य सुनाइये ।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"मुनियो ! महाराज राज्यवर्धन के परम पावन मय चरित्र को मैं सुनाता हूँ आप ध्यान पूर्वक श्रवण करे । ये महाराज सुन्दर, शूरवीर, गुणाढ्य, भक्तवत्सल और प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे । ये प्रजा का शासक बनकर पालन ही नही करते थे, किन्तु उन्हें अपना इष्ट मानकर उपासना करते थे । इनके राज में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल मृत्यु दुष्काल, चोर, सर्प, मूसक, दीमक, टिड्डी आदि के कुछ भी उत्पात नहीं थे । प्रजा के सभी पुरुष सुन्दर, स्वस्थ, पुत्र पौत्र-वान् दीर्घजीवी और हृष्ट पुष्ट थे । सभी की धर्म में मति थी, सभी देवता, ब्राह्मण, गौओं के पूजक थे, कोई भूखा, नङ्गा दीन दुखी नहीं था । पिता के सम्मुख कभी पुत्र मरता नही था, कोई स्त्री विधवा नही थी, ऐसे राजा को प्रजा अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करती थी, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात ही नही थो । राजा के पुण्य प्रताप से ही प्रजा प्रसन्न होती है और राजा के पाप से ही दुष्काल और अकाल मृत्यु आदि के दुःख होते हैं ।

राजा जैसे ही प्रजावत्सल, धार्मिक थे वैसी ही उनकी महारानी थी । उनका विवाह दक्षिण देश के महाराज विदूरथ की परम सुन्दरी गुणवती मनस्विनी मानिनी के साथ हुआ था । मानिनी बड़ी ही सती साध्वी पतिव्रता थी, वह अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी । उनकी संपूर्ण सेवा सेवकों से न कराकर स्वयं ही किया करती राजा भी उन्हें प्राणों से

अधिक प्यार करते। उसके गर्भ से कई पुत्र हुए जिनमें सुधृत सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। महारानी पुत्रवती होने पर भी अपने पति की सदा स्वयं ही सेवा में संलग्न रहती।

एक दिन महाराज सुखपूर्वक पलङ्ग पर लेटे हुए थे। महारानी मानिनी शनैः शनैः उनके सिर में तैल लगा रही थी। उसी समय महारानी के नेत्रों से टप-टप करके बहुत से अश्रु निकल पड़े, वे उष्ण अश्रु जब महाराज के अङ्ग पर गिरे तो उनको आश्चर्य हुआ। ऊपर दृष्टि उठाकर उन्होने महारानी का मुख देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ रानी रो रही है और उसी के नेत्रों के उष्ण अश्रु मेरे शरीर पर गिरे हैं। महाराज राज्यवर्धन ने बड़े स्नेह से अपनी प्राण प्रिया का सिर अपनी अङ्क में रखकर उसके आँसुओं को पोंछते हुए कहा—"प्रिये ! तुम रो क्यों रही हो? किस दुख के कारण तुम्हारे नेत्रो से अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। अपने दुख का कारण तुम मुझे बताओ।"

रानी ने अपने अंचल से अपना मुख पोंछते हुए राजा के सिर का एक पका बाल दिखाते हुए कहा—"प्राणनाथ ! प्राणियों की अत्यन्त ही अप्रिय यह वृद्धावस्था आप पर आक्रमण करना चाहती है। यह मेरे लिये दुःख का विषय नहीं है तो और क्या है ?"

राजा यह सुनकर हँस पड़े और रानी के मुख को ऊपर उठाते हुए बोले—"तुम तो बच्चों की सी बातें कर रही हो। जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा भी अवश्य। देह धारियों को बाल्य, कौमार, पौगण्ड, युवा और वृद्धावस्थायें होती ही हैं। वृद्धावस्था के लिए सोच उनको करना चाहिए जिन्होंने जन्म लेकर कोई सुन्दर कार्य न किया हो। अपने कर्तव्य का पालन

न किया हो मैंने धर्म पूर्वक प्रजा का पालन किया, बड़े बड़े सहस्रों यज्ञ किये, यथेष्ट दान दिया, विप्रों और गुरुजनों को अपनी सेवा से संतुष्ट किया। तुम्हारे साथ विधि पूर्वक विवाह किया। बहुत से योग्य पुत्रों को उत्पन्न किया। अब यदि वृद्धावस्था मेरे निकट आती है, तो मैं उसका स्वागत करता हूँ। उसकी यही चिकित्सा है, कि राज्य मैं अपने पुत्र को सोंपकर वन में जाऊँगा। और वहाँ तप करके इस शरीर का त्याग करूँगा। मैंने पूरे सात हजार वर्ष तक इस पृथिवी का पालन किया है, सभी राजा जिन सुखों का उपभोग नहीं कर सकते उनका मैंने उपभोग किया है। अब जरा से मुझे क्या भय? यह तो मुझे राज्य छोड़ने की सूचना है, मेरे अभ्युदय का चिह्न है, अब मैं अविलम्ब तपस्या करने वन में जाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजा के इस निश्चय की बात सर्वत्र फैल गई। प्रजा के सभी पुरुष आ आकर राजा के समीप रोने लगे।"

राजा ने प्रेम पूर्वक कहा—"प्रजा के स्त्री पुरुषो! तुम भी मेरी रानी की भाँति रो रहे हो। देखो, सदा कोई साथ थोड़े रहता है। एक दिन वियोग तो अवश्यम्भावी है।"

प्रजा के पुरुषों ने कहा—"प्रभो! महारानी को रोने की क्या आवश्यकता है। वे तो छाया की भाँति आपके साथ रहेंगी। आप वन में जायेंगे, तो वे वन में आपकी सेवा करेंगी। परलोक पधारेंगे तो ये संग संग सती होंगी। रोना तो हमें चाहिये, जो सात हजार वर्ष हम सबका पुत्रों की भाँति पालन करके आप हमें छोड़े जा रहे हैं।"

राजा ने कहा—"देखो, तुम सब मोहवश ऐसी बातें कर रहे हो। जैसा प्रेम तुम मुझ में रखते रहे हो, वैसा ही मेरे पुत्र सुधृति में तुम सब रखना। वह बड़ा योग्य है ब्राह्मण भक्त है वह भी मेरी भांति तुम सबका पालन करेगा। वन मे तपस्या करके मैं पुण्य संचय करूँगा।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"राजन्! आप वन में जो पुण्य संचय करें, वह प्रजा पालन से बढ़कर कभी नहीं हो सकता। प्रभो! आपके शासन में हमें जो सुख मिल रहा है, वह दूसरे के शासन में संभव नहीं। आप हमारी प्रार्थना पर ध्यान दे और वन को न जायें।"

राजा ने कहा—"तुम लोग मेरे इस कार्यमें विघ्न मत डालो। क्षत्रियों को घर मे मरना शोभा नही देता। मेरे पिता, पितामह प्रपितामह और उनके भी पिताओं ने ऐसा ही किया था। उसी पथ का मैं अनुसरण कर रहा हूँ। मैं कोई नवीन कार्य तो करता ही नहीं तुम्हें मेरे पुत्र के राज्य में कोई कष्ट न होगा।"

यह कहकर राजा ने ज्योतिषियों को बुलाया। पुत्र सुधृति को बुलाकर उन्हें राजकाज समझाया। सुधृति तो यह सुनकर रोने लगे और बोले—"महाराज! मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ, आप मेरे निर्बल कंधों पर इतना भार क्यों रख रहे है। मैं आपके समान प्रजा का पालन किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। प्रभो! आप कृपा करें। वन न जायें। इस रोती हुई प्रजा की आर्तवाणी पर ध्यान दें।"

कुमार की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर ब्राह्मण भी रोने लगे। वे मुहूर्त तिथि नक्षत्र सब कुछ भूल गये। अन्य मांडलिक

देशों के भी बहुत से ब्राह्मण आ गये। बगुला के पंखों के समान सफेद चमरी गौ की पूँछ के समान जिनके शुभ्र सफेद बाल थे, वे बूढ़े २ ब्राह्मण आकर महाराज से वन न जाने की प्रार्थना करने लगे। सब ने विनय की—"महाराज! हमारी प्रार्थना है अभी आप कुछ काल के लिये वन जाना स्थगित कर दें।"

सबका आग्रह देखकर राजा ने कुछ काल के लिये वन जाना स्थगित कर दिया। अब तो ब्राह्मणों का एक बड़ा भारी सम्मेलन हुआ। उसमें सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि हम सब ब्राह्मणों को राजा के दीर्घ जीवन के लिये जगत के समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् सूर्य नारायण की उपासना करनी चाहिये। अवश्य ही ये प्रत्यक्ष देव हमारी मनोकामना को पूर्ण करेंगे।"

ऐसा निश्चय करके सभी प्रजा के लोग राजा की आयु वृद्धि के लिये घर-घर अनुष्ठान करने लगे। बहुत से ब्राह्मणों ने मिलकर सूर्य भगवान् की आराधना आरम्भ की। जिस स्थान पर ब्राह्मणगण सूर्य की आराधना कर रहे थे, उसी स्थान पर एक सुदामा नामक ब्राह्मण आया और सबसे बोला-"स्थान का आराधना अनुष्ठान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सिद्ध स्थान में अनुष्ठान शीघ्र सिद्ध होता है, अतः आप लोग सिद्ध स्थान में जाकर अनुष्ठान करें; तब आपको अल्प काल में ही सिद्धि प्राप्त हो सकेगी।"

ब्राह्मणों ने पूछा—"विप्रवर! आप हमें उस सिद्ध स्थान का पता बताइये, हम अवश्य ही वहाँ जाकर अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये आदित्य का अनुष्ठान करेंगे।"

सुदामा ब्राह्मण ने कहा—"ब्राह्मणो! काम रूप पर्वत पर

गुरुविशाल नामक एक बृहद् वन है। उस वन में सिद्ध लोग ही निवास करते हैं, वहाँ एक सूर्य भगवान् का मन्दिर है, यदि आप लोग वहाँ जाकर सूर्य भगवान् की आराधना करें, तो उस परम हितकारी सिद्ध क्षेत्र के प्रभाव से शीघ्र ही आपकी सभी कामनायें सिद्ध होंगी।"

यह सुनकर ब्राह्मण अत्यन्त हर्षित होकर गुरुविशाल वन गये। अन्य धर्मात्मा क्षत्रिय वैश्यों ने भी उनका अनुगमन किया। वहाँ उन सबने सूर्य भगवान् का एक पवित्र एवं अत्यन्त सुन्दर मन्दिर देखा। वहीं सब लोग मिताहारी होकर एकाग्र चित्त से विविध सामग्रियों से सूर्य देव की उपासना करने लगे।

इस प्रकार जब वे तीन महीने तक उपासना करते रहे, तो उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो सहस्रांशु भगवान् सूर्य अपने साक्षात् स्वरूप से सबके समीप आकर बोले—"हे द्विजाति के लोगो! मैं तुम पर सन्तुष्ट हूँ, तुम मुझ से अभीष्ट वर माँगो।"

भगवान् सूर्यदेव के सशरीर प्रत्यक्ष दर्शन पाकर सभी को परम प्रसन्नता हुई। गद्‌गद् कण्ठ से सबने कहा—"हे कर्मों के साक्षी स्वरूप! प्रकाश प्रदान करने वाले प्रभो! यदि आप हम पर प्रसन्न हैं तो हमारे सर्व प्रिय धर्मात्मा राजा की आयु १० सहस्र वर्ष और बढ़ जाय।"

सूर्यदेव ने कहा—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा। यह कहकर वे वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। अपना अभीष्ट वर पाकर प्रसन्नतापूर्वक सभी द्विजाति गण अपने राज्य में लौट

आये वहाँ आकर उन्होंने सबसे वरदान की बात बताई। सभी प्रजा के स्त्री पुरुष परम प्रसन्न हुये। जब यह समाचार रानी मानिनी ने सुना तब तो उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रेम भरित हृदय से अत्यन्त ही अनुराग पूर्वक बोली— "महाराज ! मैं आज धन्य हो गई। कृतकृत्या हुई। जो आज फिर दश सहस्र वर्ष युवा और नीरोग रह कर पृथिवी का पालन करेंगे। मेरे लिये इससे बढ़कर सुखद समाचार दूसरा कौन होगा।"

यह सुनकर राजा प्रसन्न नहीं हुये। वे चिन्तित होकर बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे। उनके मुख मण्डल पर विषाद की एक स्पष्ट रेखा दिखाई दे रही थी। इसे देखकर आश्चर्य के सहित रानी ने पूछा—"प्रभो ! यह क्या बात है। आपका इतना अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ है, फिर भी आप प्रसन्न नहीं हैं, मुझ से हँस कर बातें नहीं करते। इस आनन्द के अवसर पर विषाद का क्या कारण है ?"

राजा ने कहा—"प्रिये ! इसमें मेरा अभ्युदय क्या हुआ क्लेश बढ़ गया। जीवन क्या हुआ और भार बढ़ गया।"

रानी ने कहा—"क्यों प्रभो ! सूर्य भगवान् के वरदान से आपको कोई रोग न होगा, आप सर्वदा स्वस्थ बने रहेंगे।"

राजा ने कहा—"यह सब तो सत्य है, किन्तु केवल मैं ही तो युवक बना रहूँगा। ये मेरे मन्त्री पुरोहित, सेवक, परिजन पुरजन और प्राणों से भी अधिक प्यारी-तुम तो तब तक न रहोगी। ये सब लोग तो एक-एक करके मुझे छोड़कर चले जायँगे। अपने स्नेहियों बन्धु-बान्धवों के साथ तो दुःख भी सुख

के सदृश हो जाता है और स्नेहियो के विरह में सुख भी दुख समान प्रतीत होता है ? जब तुम ही न रहोगी, तो मैं इतनी बड़ी आयु को लेकर क्या करूँगा। मेरे स्नेही बन्धु-बान्धव जब मुझे छोड़कर चले जायँगे, तो यह राज पाट मेरे लिये एक अभिशाप मात्र ही रह जायगा।"

यह सुनकर रानी ने कहा—"प्रभो ! मैंने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया था। हाँ यह तो अवश्य ही दुःख की बात है। अब क्या किया जाय ?"

इस पर राजा बोले—"प्रिये ! पुरवासियों ने मेरे प्रति परम प्रेम प्रदर्शित किया है, यदि मैं उसका प्रत्युपकार न करूँ तो कृतघ्न कहलाऊँगा। अतः मैं भी उसी काम पर्वत पर गुरुविशाल नामक बृहद् वन में जाऊँगा। मैं भी भगवान् विवस्वान् की विनय और वन्दना करूँगा। मैं भी उनसे अपनी समस्त प्रजा, भृत्य वर्ग, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इष्ट, मित्र, बन्धु बान्धव तथा तुम्हारे लिये इतनी ही बड़ी आयु की याचना करूँगा। यदि भगवान् भुवन भास्कर मेरे ऊपर प्रसन्न होकर मुझे ऐसा वर देंगे, तब तो मैं राजधानी में आकर सबके साथ सुखपूर्वक राज्य शासन करूँगा, नहीं तो वहीं उपवास कर के अपने प्राणों का परित्याग करूँगा।"

राजा का ऐसा दृढ़ निश्चय समझकर मानिनी ने उनका अभिनन्दन किया और स्वयं भी उनके साथ चलने को प्रस्तुत हो गई। राजा रानी दोनों ही कामरूप पर्वत पर गये। वहाँ उन्होंने भक्ति भाव से भगवान् सविता का पूजन स्तवन किया इनकी उपासना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव इन्हें इनका इच्छित वर

देकर अन्तर्हित हो गये। तब राजा बड़ी प्रसन्नता से अपनी राजधानी में लौट आये। उनके समस्त भृत्यों, सेवकों, पुरोहितों आमात्यों तथा पुत्रों, पौत्रों,प्रपौत्रों, सगे सम्बन्धियों तथा मंत्रियों की आयु उनके समान ही हो गई थी। उन सब के साथ वे धर्म पूवक शासन करने लगे। इसीलिये कहते हैं कि भगवान् सूर्य की उपासना से क्या प्राप्त नहीं हो सकता। महाराज के सामने ही पुत्र पौत्र, प्रपौत्र तथा प्रपौत्रों के भी पुत्र पौत्र हो चुके थे।

महाराज राज्यवर्धन जो कि अपने प्रजा पालन रूप परम धर्म से आयुवर्धन हो गये थे उनके पुत्र का नाम सुधृति था। सुधृति का नर नामक पुत्र हुआ। नर के पुत्र का नाम केवल था। केवल का बन्धुमान और बन्धुमान का वेगवान् हुआ। इन्हीं वेगवान के राजर्षि तृणविन्दु पुत्र हुए, जिनकी ख्याति अब तक सर्वत्र व्याप्त है। इन महाराज तृणविन्दु को स्वर्ग की अलम्बुषा नामक परम सुन्दरी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा ने अपना पति वरण किया था। उस अप्सरा से महाराज तृणविन्दु के विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु ये पुत्र हुए और इडविडा नाम की एक परम सुन्दरी रूपवती कन्या हुई, जिसका विवाह पुलस्त्य महर्षि के पुत्र भगवान् विश्रवा के साथ हुआ, जिनसे कुबेर जी का जन्म हुआ।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी! इडविडा का विवाह अगस्त्त पुत्र विश्रवा के साथ कैसे हुआ और उसके गर्भ

लोकपाल धनद भगवान् कुबेर का जन्म कैसे हुआ। कृपा करके इस कथा को पहिले सुनाकर तब आप तृणविन्दु के वंश का अग्रिम वर्णन करें।

इस पर सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो! मैं पहिले राजर्षि तृणविन्दु की पुत्री भगवती इडविडा के ही सम्बन्ध में बताता हूँ। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

नृप दम के सुत भये राज्यवर्धन तेजस्वी।
प्रजा पुत्रवत पालि भये अति भूप यशस्वी॥
श्वेत बाल लखि चले मानिनी सङ्ग बन नरपति।
प्रजा दुखित अति भई अराधे सब मिलि दिनपति॥
दरप सहस दश रवि दई, आयु भूप रवि पुनि भजे।
सबकी निज सम आयु करि, सबने ही सङ्ग तनु तजे॥

राजर्षि तृणबिन्दु का वंश

(६०४)

बन्धुस्तस्याभवद्यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः।
तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम् ॥
वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत्।
तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम ॥
(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ३०, ३१ श्लो०)

छप्पय

नृप मरुत्त नवम् तें भये पीढ़ी महँ भूपति।
पृथिवीपति तृणबिन्दु रूप गुण महँ सुन्दर अति ॥
अलम्बुसा अपसरा कामवश ह्वै कें आई।
विधिवत् करचो विवाह इडविडा कन्या जाई ॥
सुत पुलस्त्य मुनि विश्रवा, ता दुहिता के पति बने।
धनाध्यक्ष उत्तर अधिप, श्री कुबेर ताने जने ॥

वंश वृद्धि और कुल की कीर्ति बनाये रखने के निमित्त

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन् ! महाराज बन्धु के पुत्र तृणबिन्दु राजा हुए। उन भजनीय गुणों के आलय भूपति को अलम्बुषा श्रेष्ठ अप्सरा ने वरण किया। उससे उन्होंने बहुत से पुत्र और इडविडा नाम की एक कन्या उत्पन्न की। जिसमें भगवान् विश्रवा ने धनाध्यक्ष कुबेर को उत्पन्न किया।"

गृहस्थी,पुत्र की इच्छा करते है। पुत्री पर घर मे जाकर दूसरे गोत्रवाली हो जाती है किन्तु कोई पुत्री ऐसी यशस्विनी होती है, कि उसके कारण पतिकुल, पिताकुल दोनों ही कुलो की प्रसिद्धि होती है। भगवती इडविडा राजर्षि तृणविन्दु की ऐसी ही पुत्री हुई, जिसके पुत्र धनाध्यक्ष कुबेर वैथवण और ऐडविड दोनो ही कहलाये।

श्रीसूतजी कहते हैं—"भगवन्! पुण्य प्रान्त हिमालय के अत्यन्त ही रमणीय स्थान में भगवान् पुलस्त्य तपस्या कर रहे थे। वह पार्वतीय प्रान्त परम शोभा सम्पन्न था। वहाँ के वृक्ष सभी फले फूले थे। लतायें सभी पुष्पों के भार से नमित थीं। वे वृक्षों से लिपटी हुई प्रेम का प्रदर्शन कर रही थी। स्थान-स्थान पर पर्वत शिखरों से स्वच्छ जल वाले झरने झर रहे थे। उसके समीप की भूमि समतल थी। उस पर हरी-हरी दूब उसी प्रकार उग रही थी मानों किसी ने हरि तरग का गुदगुदा गलीचा बिछा दिया हो। वहाँ पर विहार करने के लिये ऋषि मुनि, देव, गन्धर्व तथा विद्याधरों की बहुत सी कन्यायें आया करती थीं। महाराज! यह युवावस्था ऐसी अटपटी है, कि इसमें जिसे उच्छृङ्खलता न आवे, इसमें जो उन्माद से बचा रहे, वह कोई परम संस्कारी पुरुष है। नही तो भगवन्! युवावस्था के पदार्पण करते ही अङ्ग अङ्ग फड़कने लगता है। रोम रोम से उन्माद फूटने लगता है। एक स्थान पर बैठा नहीं जाता, चुलबुलापन बढ़ जाता है, हँसी का फुव्वारा सा छूटने लगता है। बूढ़े लोगों को देखकर चित्त प्रसन्न नहीं होता भगवान् से चाहते हैं, कब ये हमारे सामने से हट जायें। वे नही हटते तो, युवक ही बूढ़ों से दूर हट जाते हैं। बड़े बूढ़े अपने

कोई सगे सम्बन्धी हुए, तो उनका शील संकोच करना पड़ता है। यदि ऐसे वैसे ही हुए तो उनकी खिल्ली उड़ाने में बड़ा आनन्द आता है। यदि दो चार चढ़ती अवस्था के युवक एक साथ मिल जायँ, तव तो पूछना ही क्या ? गिलोय और नीम चढ़ी। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में इस अवस्था में चंचलता अधिक बढ़ जाती है। घर में तो माता, पिता, भाई आदि का सङ्कोच रहता है। जब ये लड़कियाँ अपनी एक अवस्था की हमजोली सखियों के साथ एकान्त में क्रीड़ा करती हैं, तव तो कुछ कहने की वात ही नहीं। ऐसा लगता है, मानों ककड़ियों की हाठ लग रही हो। हँसी के फुब्वारे छूटने लगते हैं। चहल-पहल, चुड़ियों की खनखनाहट पाइजेब और नूपुरों की छन-छनाहट पैनी और सुरीली वाणी से होने वाली प्रेम कलह, हँसी विनोद, सभी मिलकर एक प्रकार की विचित्र ध्वनि से वह प्रदेश गूजने लगता है।

पुलस्त्य मुनि यद्यपि एकान्त मे तपस्या करते थे, फिर भ इन भुण्ड की भुण्ड कुमारी युवतियों के आ जाने से उनका ध्यान टूट जाता। कई बार लड़कियों से प्रेमपूर्वक कहा भी, कि तुम कही दूसरे स्थान पर जाकर क्रीड़ा करो। किन्तु लड़कियां जिस हठ पर अड़ जाती है उसे कोई डिगा नही सकता। सबने आपस में कहा—"वन्य प्रदेश सबका है। सभी स्वेच्छा से विचरण कर सकती है। किसी को विघ्न हो तो वह स्वयं चला जाय।" ऐसी बातें कहकर उन्होंने मुनिवर पुलस्त्य की वात पर ध्यान नहीं दिया। वे पूर्ववत् आकर वहाँ हा-हा हू-हू करके उस प्रदेश को अपने अट्टहास से गुंजाने लगी। एक दिन मुनि को उन पर क्रोध आ गया और बोले—"अच्छी बात

है, तुम सब वैसे नहीं मानोगी। मैं आज से शाप देता हूँ, कि आज से जो कुमारी यहाँ क्रीड़ा करने आवेगी वह आते ही गर्भवती हो जायगी।"

यह सुनते ही लड़कियाँ तो वहाँ से मुट्ठी बाँधकर भागी। कुमारी कन्याओं के लिए संसार में इससे बढ़कर लज्जा की दूसरी कोई बात नहीं कि वे अविवाहित अवस्था में ही गर्भवती बन जायँ। यह बात उनके लिए मरण से भी बढ़कर

कष्टकर है। उस दिन से किसी भी लड़की ने वहाँ जाने का साहस नहीं किया।

जिस दिन भगवान् पुलस्त्य ने शाप दिया था, उस दिन एक राजर्षि की कन्या वहाँ नहीं थी। नित्य वह भी आया करती थी। उसे शाप की बात विदित नहीं हुई। अतः वह दूसरे दिन उसी प्रदेश में क्रीड़ा करने गई, वहाँ जाकर उसने देखा—"आज तो यहाँ एक भी मेरी सखी सहेली नहीं आई।" वह यह सोच ही रही थी कि इतने में ही उसके अङ्ग में गर्भ के समस्त लक्षण उत्पन्न हो गये। मुनि के वचन मिथ्या कैसे हो सकते हैं? लड़की तो यह देखकर सकपका गई। लज्जा के कारण उसका मुख पीला पड़ गया। वह अपने अङ्गों को छिपाती हुई पिता के समीप पहुँची। पिता ने उसकी ऐसी दशा देखकर दिव्य दृष्टि से सभी बातें जान लीं। वे उस कन्या को लेकर भगवान् पुलस्त्य के आश्रम पर गये और बड़े विनीत भाव से बोले—"ब्रह्मन्! मेरी यह कन्या है, इससे आपका अनजान में अक्षम्य अपराध बन गया है। प्रभो! आप तो दया के सागर हैं। इस भोली बाला के अपराध को क्षमा कीजिये और इसे कृपा करके अपनाइये। इसे सदा के लिये अपनी दासी बना लीजिये।"

उन राजर्षि के ऐसे वचन सुनकर भगवान् पुलस्त्य बोले—"हे तपोधन! आपकी कन्या सुशीला है, सुन्दरी है, सर्वगुण-सम्पन्ना है। इसने जान बूझकर अपराध नहीं किया है। मैंने इसे ही लक्ष्य करके शाप नहीं दिया था। यह तो संयोग की बात थी। भगवान् की ऐसी ही इच्छा। अच्छी बात है आप इसे छोड़ जाइये। यह आश्रम की सेवा करती रहेगी।"

मुनि की आज्ञा पाकर वे राजर्षि अपनी प्यारी पुत्री को छोड़कर चले गये। वह वरांगना बड़ी श्रद्धा से भगवान् पुलस्त्य की सेवा करती। उनके विपरीत कोई भी आचरण न करती। ऋषि जब वेद पाठ करते तो वह गर्भस्थ बालक सब कुछ गर्भ में ही बैठा बैठा सुनता था और वहीं वह श्रुतियों को कंठस्थ कर लेता। कुछ काल के पश्चात् उसके गर्भ से एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ। गर्भ मे ही वेदों को बालक ने विशेष रूप से श्रवण कर लिया था, इसीलिये मुनि ने बालक का नाम 'विश्रवा' रख दिया। विश्रवा बड़े ही सुन्दर तपस्वी और तेजस्वी थे। जब वे बड़े हो गये तो इनके साथ राजर्षि तृणविन्दु ने अपनी पुत्री इडविडा का विवाह कर दिया। उसी से धनाध्यक्ष कुवेर का जन्म हुआ। वे उत्तर दिशा के लोकपाल और समस्त निधियों के स्वामी हुये। पिता की आज्ञा से वे लंका में रहते थे। एक दिन वे सुवर्ण के पुष्पक विमान पर चढ़कर अपने पिता विश्रवा को प्रणाम करने जा रहे थे, कि उन्हें सुमाली नामक राक्षस ने देखा। उसके मन में भी ऐसा पराक्रमी दौहित्र देखने की इच्छा हुई। अतः उसने अपनी पुत्री कैकसी को भगवान् पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा के समीप भेजा। उसका अभिप्राय समझ कर मुनि विश्रवा ने उसे स्वीकार कर लिया और उसी से रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण ये तीनों पुत्र हुए। मातृवंश के कारण ये पुलस्त्य कुल में उत्पन्न होकर भी राक्षस ही हुए। इनका चरित्र आगे श्री रामचरित्र में प्रसंगवश वर्णन किया जायगा।

इस प्रकार तृणबिन्दु की पुत्री इडविडा का विवाह पुलस्त्य पुत्र विश्रवा के साथ हुआ। किसी किसी का मत है, तृण-

विन्दु की कन्या का विवाह तो पुलस्त्य मुनि के साथ हुआ, जिनसे विश्रवा मुनि उत्पन्न हुए और विश्रवा का विवाह भारद्वाज मुनि की कन्या के साथ हुआ, जिनसे कुवेरजी की उत्पत्ति हुई। ऐसा कल्पभेद के कारण हो जाता है। यहाँ भागवती कथा के प्रसङ्ग में तो राजर्षि तृणबिन्दु की सुकन्या इडविडा का ही विवाह विश्रवा के साथ हुआ और उसी के गर्भ से धनाध्यक्ष लोकपाल कुबेर का जन्म हुआ।

सूतजी, कहते है—"मुनियो! यह मैंने आपके पूछने पर प्रसंगवश राजर्षि तृणबिन्दु की कन्या इडविडा के सम्बन्ध की ये बातें बताई, अब आप तृणबिन्दु के वंश का विस्तार से श्रवण करें।

राजर्षि तृणविन्दु के विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु ये तीन पुत्र हुए। इन सबमें विशाल बड़े थे। अतः वे ही सम्राट् हुए। उन्होंने अपनी यश वृद्धि के लिये वैशाली नाम की पुरी बसाई जिसके खंडहर अद्यावधि पृथिवी के गर्भ से पुरातत्व वेत्ता खोदकर निकालते हैं। विशाल के पुत्र हेमचन्द्र हुए। उनके धूम्राक्ष। धूम्राक्ष के संयम और संयम के दो पुत्र हुए कृशाश्व और देवज। वड़े कृशाश्व के सोमदत्त नामक पुत्र हुआ। जिसने वड़े अश्वमेध यज्ञ किये। और योगेश्वरों की उपासना करके योगविद्या को भी प्राप्त किया। सोमदत्त के पुत्र सुमति हुए। सुमति के जनमेजय (ये जनमेजय दूसरे सूर्यवंशी है।) इस प्रकार राजर्षि तृणविन्दु के वंश में बहुत से राजा हुए। उन सबका यहाँ वर्णन करना असम्भव है। मुख्य मुख्य राजाओं के नाम गिना दिये। सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में मनु पुत्र महाराज दिष्ट के वंश का वर्णन किया। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हम इतनी कथाओं को सुनकर भी कथा के मूल प्रवाह को भूले नहीं हैं। आप हमें विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन सुना रहे थे। आपने वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि ये दश पुत्र बताये थे। जिनमें से 'सूची कटाह' न्याय से आपने बड़े इक्ष्वाकु के वंश को छोड़ कर पृषध्र, कवि, नरिष्यन्त और दिष्ट इन चार मनु पुत्रों के सम्बन्ध के इतिहास तथा वंशों का संक्षिप्त वर्णन किया। पृषध्र और कवि तो अविवाहित रहकर ही परमपद को प्राप्त हुए। नरिष्यन्त के वंश वाले आगे चल कर अग्नि वेश्यायन गोत्र वाले ब्राह्मण ही कहलाये। दिष्ट के वंश के नाभाग, वत्सप्रीति, खनित्र, क्षुप, विविंशति, खनीनेत्र, करन्धम, अवीक्षित्, मरुत्त, दम तथा तृणबिन्दु आदि मुख्य मुख्य राजर्षियों के आपने चरित्र भी सुनाये। अब हम शेष मनु पुत्रों के वंश के मुख्य मुख्य राजाओं का चरित्र और सुनना चाहते हैं। कृपा करके उनके सम्बन्ध की कथा हमें और सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"मुनियो ! आपकी इतनी स्मरण शक्ति को देखकर ही तो मुझे कथा सुनाने में इतना उत्साह होता है। महाभाग ! मनु के बड़े पुत्र इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन तो मैं सबसे अन्त में करूँगा। अब आप शेष पाँच मनु पुत्रों के वंश का वर्णन सुनें। जिस प्रकार

मेरे गुरुदेव ने दिष्ट के वंश के अनन्तर मनु पुत्र शर्याति के वंश का वर्णन किया, उसे अब मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। शर्याति वंश के सुप्रसिद्ध भगवद्भक्त राजाओं के भक्ति वर्धक अलौकिक चरित्रों का श्रवण करें।"

छप्पय

सुत विशाल तृणविन्दु नृपति वैशालि बसाई।
हेमचन्द्र सुत तासु भये जग कीरति छाई॥
सुत तिनके धूम्राक्ष तासु सुत सयम श्रीयुत।
तिन के पुत्र कृशाश्व, सोमदत्तहु तिन के सुत॥
सोमदत्त के सुमति सुत, जनमेजय तिन के भये।
यश वर्धक तृणबिन्दु के, कुल महँ ये नृप ह्वै गये॥

शर्याति सुता सुकन्या चरित्र

(६०५)

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह।
यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीतमह ऊचिवान्॥
सुकन्या नाम तस्यासीत्कन्या कमललोचना।
तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम्॥*

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० १ २ श्लो०)

छप्पय

मनसुत नृप शर्याति वेद शास्त्रनि के ज्ञाता।
तिनकी कन्या भई सुकन्या जग विख्याता॥
इक दिन कन्या सहित गये नृप घूमन वन महँ।
कन्या सखियन संग फिरैं वन प्रमुदित मन महँ॥
च्यवनाश्रम के निकट इक, दीमक को टीलो निरखि।
चकित भइ जुगनू सरिस, द्वै चमकिली वस्तु लखि॥

अनर्थ सदा चांचल्य से ही होता है। चंचलता वैसे तो सभी अवस्था के लोग करते हैं, किन्तु युवावस्था तो चंचलता

*श्री शुकदेवजी जी कहते हैं—"राजन्! वैवस्वत मनु के एक शर्याति नाम के वेदतत्वविज्ञाता पुत्र थे। जिन्होंने अङ्गिरा गोत्र वाले मुनियों के यज्ञ में द्वितीय दिवस का कृत्य बताया था, उन्हीं राजा की कमल नयनी एक सुकन्या नाम की कन्या थी। उसको साथ लेकर राजा एक बार च्यवनाश्रम में गये।

का घर है। युवास्था में प्रायः सभी युवक युवतियों के मन में अत्यधिक चंचलता आ जाती है। नूतन नूतन वस्तुओं की जानकारी के लिये कुतूहल होता है। चलन में, उठन में बैठन में, बोलने में, तथा सभी प्रकार के वार्ताओं में चंचलता का साम्राज्य छा जाता है। जिन युवकों के जीवन में चंचलता नहीं, वे या तो अलौकिक महापुरुष हैं या निर्वीय नपुन्सक हैं। कभी कभी युवावस्था की चंचलता से बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसी लिये तो गुरुजन युवकों के प्रति बड़े सचेष्ट रहते हैं और उनका गति विधि को शङ्का और भय के साथ बड़ी सावधानी से निहारते रहते हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं आपके सम्मुख मनुपुत्र शर्याति के वंश का वर्णन करता हूँ। महाराज शर्याति क्षत्रिय होने पर भी कर्मकांड में बड़े निष्णात थे। वे वेदों का तत्व जानने में उन दिनों विख्यात थे, वैदिक क्रियाकलाप में वे पारंगत थे प्राचीन काल में यज्ञों का बड़ा विस्तार था, महत्ता और बड़प्पन के प्रतीक यज्ञ ही थे। जो जितने ही अधिक वृहद् तथा धूमधाम से यज्ञ करते, वे उतने ही बड़े समझे जाते थे। राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों को सब नहीं कर सकते थे, जो अश्वमेध यज्ञ कर लेता उसे 'हयमेधराट्' की उपाधि मिल जाती, जो १०० अश्वमेध कर लेता, वह देवताओं का इन्द्र बनने का अधिकारी हो जाता, इन यज्ञों की विधि सब को कंठस्थ करनी पड़ती थीं। उन दिनों पुस्तकों का प्रचार नहीं था। सब मंत्र उनकी विधि, कौन किस काम में कब प्रयुक्त होगा, ये सब बातें विधिपूर्वक स्मरण करनी पड़ती थी। जहाँ विधि में तनिक भी गड़बड़ हुई, तहाँ यज्ञ विफल हो जाता था। यज्ञ का समस्त परि-

णाम विधि के ही ऊपर निर्भर था। अतः विधि के विषय में बड़े बड़े वेदज्ञ भ्रम में पड़ जाते थे।

एक बार अंगिरा गोत्र वाले बहुत से मुनि एकत्रित होकर स्वर्ग की कामना से यज्ञ कर रहे थे। वे प्रथम दिवस का कृत्य तो विधि विधान पूर्वक सम्पन्न कर चुके थे, किन्तु द्वितीय दिन के क्रम में वे विमोहित हो गये। उस समय महाराज शर्याति ने द्वितीय दिवस का कृत्य यथावत् बता दिया। इससे इनकी बड़ी ख्याति हुई, वेदज्ञ ब्राह्मण भी इनका सम्मान करने लगे और तभी से इन्हें "ब्रह्मनिष्ठ" कहने लगे। इन महाराज के शर्याति उत्तानबर्हि और आनर्त ये तीन पुत्र और सुकन्या नाम की एक कन्या थी। पहिले मैं सुकन्या के ही चरित्र का वर्णन करता हूँ।

एक दिन महाराज शर्याति अपनी स्त्रियों तथा सेना तथा मंत्रियों के साथ वन विहार के लिये नर्मदा के तटपर वैदूर्य पर्वत के समीपस्थ प्रान्त मे गये। उनके साथ उनकी प्यारी दुलारी पुत्री सुकन्या भी थी। उसी वन में महर्षि भृगु पुत्र च्यवन मुनि घोर तपस्या कर रहे थे। इसीलिये वह वन उन्ही के नाम से विख्यात था, वह सरोवर के निकट बड़ा ही हरा भरा रमणीय प्रदेश था, उस वन में विविध भाँति के पुष्पों और फलों वाले वृक्ष थे। स्थान स्थान पर लताओं की सघन कुंजें बन रही थी। जिन पर बैठे पक्षिगण कलरव कर रहे थे, सरोवर में कमल खिल रहे थे, जलकुक्कुट, राजहंस, सारस, बक आदि जलचर जन्तु इधर से उधर घूम रहे थे। उस सरोवर से कुछ दूर ऊँचे स्थान में एक सघन वृक्ष के नीचे सहस्त्रों वर्ष से बिना कुछ खाये पिये भृगु पुत्र भगवान् च्यवन तपस्या कर रहे थे।

तपस्या करते करते दीमकों ने उनके शरीर के ऊपर अपनी वामी बनाली थी। पैर से सिर तक दीमक की मिट्टी से वे ढक गये थे। दीमकों के बहुत से छिद्र थे जिसमें से वे आती जाती दिखाई देती थीं। छोटी छोटी लतायें उगकर समीप के पेड़ पर चढ़ गईं थी सब अंग तो मुनि का दीमक की वामी से ढक गया था, किन्तु नेत्र नहीं ढके थे। भौहों तथा पलकों के बालों को दीमकें चाट गई थीं ध्यान से देखने से चमकीले नेत्र गोलक ही दिखाई देते थे। घोर जंगल में वह शून्य स्थान तपस्या के प्रभाव के कारण बड़ा ही शान्त प्रतीत होता था।

महाराज शर्याति ने उसी वन में अपना डेरा डाला, वे स्त्रियों के साथ विहार करने लगे। विविध जंगली जीवों का संहार करने लगे। सैनिक मत्त होकर इधर उधर मृगया करने लगे। सभी आनन्द में मग्न होकर स्वच्छन्द विहार करने लगे।

सुकन्या भी अपनी सखी सहेलियों से घिरकर जंगली युवती हरिणी के समान वन में स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगी। सदा महलों के भीतर ही रहने वाली राजकन्या ने जब सुविस्तृत् आकाश को चारो ओर देखा और इतना रमणीक विशाल सघन वन निहारा, तो आनन्द के कारण उसका मन मयूर नृत्य करने लगा। उसकी प्रसन्नता का वारापार नहीं था। किसी संकीर्ण गड्ढे से निकाल कर मछली को अगाध समुद्र में फेंक दिया जाय, उसमें किलोल करने से जो मछली को सुख होता है, वही सुख राजकुमारी को उस विशाल वन में हो रहा था। वह बड़ी उत्सुकता से प्रत्येक वृक्ष को देखती, अपनी सखी सहेलियों से उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा करती। जिस सुन्दर पुष्प को देखती उसे ही स्वयं तोड़ने दौड़ती। महल में तो पर्दा

भी रहता है, यहाँ शून्यारण्य में क्या परदा। वह रेशमी वस्त्र पहिले थी। सुवर्ण और बहुमूल्य मणियों के आभूषणों से उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सुशोभित थे। स्वच्छन्दता के कारण उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था। काली नागिनि के समान भागते समय ऐड़ी तक लटकने वाली उसकी चोटी हिल रही थी। वह चिड़िया के समान इधर से उधर फुदक रही थी। इस पेड़ से पुष्प तोड़, उस पेड़ से फल ले—यही वह कर रही थी। सखियों से घिरी हुई वह रानी शहद की मक्खी के समान दिखाई देती थी, वह राज कन्या युवती थी, परम सुन्दरी सुकुमारी थी, यौवन के मद से मदमाती, सबको अपनी विनोद की बातों से हँसाती, नाना प्रकार की गतियों को दिखाती, रमणीय पुष्पों से सुशोभित बहुत सी शाखाओं को भुकाती, उस रमणीय प्रदेश में इधर से उधर भ्रमण कर रही थी। सखियों के साथ वह ऐसी लगती थी मानों वन की अधिष्ठातृ देवियों के साथ साकार सुन्दरता सजीव होकर विचरण कर रही हो। अब उसे एक कुतूहल सूझा। उसने अपनी सखियों में से मुख्य मुख्य को सम्बोधन करके कहा—"ललिते! तुम अपनी कुछ सहेलियों के साथ पूर्व की ओर जाओ, कमले! तुम पश्चिम की ओर। सुभद्रे! तुम उत्तर की ओर। सौदामिनि! तुम दक्षिण की ओर जाकर बहुत से पुष्प चुन कर लाओ। मैं इस सामने के टीले पर अकेली ही जाऊँगी तुम सब इस वट वृक्ष के नीचे आकर एकत्रित हो जाना। देखें कौन-कितने प्रकार के पुष्पों को लाती है।"

सुकन्या राजकुमारी ही ठहरी, उसकी आज्ञा टालने की सामर्थ्य किसमें थी। इस प्रदेश में भय की कोई बात ही नहीं थी। मुनि का आश्रम था, सर्वत्र सैनिकों का पहरा था। सभी उसकी निर्दिष्ट दिशाओं की ओर चली गईं। वह एकाकी उछलती

कूदती उस टीले के ऊपर चढ़ गई, वहाँ से उसे वन की शोभा बड़ी ही सुन्दर दिखाई देनी थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि वन के वृक्षों को किसी ने पंक्तिबद्ध लगाया हो। वह इधर-उधर वन की शोभा निहार रही थी, कि उसे एक दीमक की ढाह दिखाई दी। वह मनुष्याकार का टीला सा था। उस पर घास जम रही थी। छोटी छोटी लतायें उगकर वृक्ष की डालिलों से लिपटी हुई थीं। कुतूहलवश कन्या इस दीमकों की ढाह को निहारने लगी। पट बीजना-जुगुनू की भाँति उसमें दो चमकीली वस्तुएँ चमक रही थी। कन्या बड़े ध्यान से उन गोल-गोल चमकीले छिद्रों को देखने लगी।

प्रारब्ध की बात उसी समय मुनि का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने एकान्त अरण्य मे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित परम सुन्दरी राजकुमारी को अनुराग भरी दृष्टि से अपनी ही ओर निहारते देखा। राजन्! समूह में दृष्टि पड़ती तो कोई बात नहीं। एकान्त मे विजन वन में एकाकी युवती को देखकर सभी का चित्त चंचल हो उठता है। सहस्रों वर्षों तक जो मुनि बिना खाये पीये समाधि लगाये घोर तपस्या करते रहे, जिन्हें अपने शरीर की भी सुधि नही रही। आज प्रारब्धवश उनके मन ने उनके साथ विश्वासघात किया। इस नीच, दुष्ट पापी, चोर, तस्कर मन का पता नहीं लगता, यह ठग कहाँ ले जाकर डुवा दे। मुनि का चित्त उस कन्या को पाने के लिये व्याकुल हो गया। शरीर क्षीण हो गया। रक्त मांस और चर्म को दीमक चाट गई किन्तु मन ने अपना स्वभाव नही छोड़ा। उसने असमय में आकर तपस्वी के साथ विश्वासघात किया। मुनि कुछ बोलना चाहते थे। किन्तु उनका शरीर तो मिट्टी का टीला बना हुआ था।"

इधर राजपुत्री सुकन्या का कुतूहल पराकाष्ठा को पार कर चुका था। उसे उत्कट जिज्ञासा हुई, कि इन दो चमकीली वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्णय करूँ कि ये है क्या ? समीप में ही एक बबूर का वृक्ष खड़ा था। वहाँ से वह दो बड़े-बड़े मोटे-मोटे काँटे उठा लाई। और युवावस्था की चचलतावश उन दोनों में शीघ्रता के साथ दोनों काँटे भोंक दिये। और फिर उन्हें कुरेदने

लगी। तभी उनसे टप-टप रक्त के बिन्दु गिरने लगे। रक्त को

देखकर राजकुमारी बड़ी भयभीत हुई। तुरन्त वह वहाँ से भागी। अत्यन्त शीघ्रता से वह हाँपती हुई उस वट वृक्ष के नीचे आई। अभी तक दूसरी कोई भी सखी नहीं लौटी थी। उसने पुकारा सभी आ गई। सबको साथ लेकर वह सीधी अपने डेरे की ओर चली। इस घटना के सम्बन्ध में उसने किसी से एक शब्द भी नहीं कहा। उसे न जाने क्यों बड़ा भय लग रहा था। रक्त प्रवाह को देखकर उसका हृदय काँप रहा था, वह एक भावी शोक का अनुभव कर रही थी। जिस किसी प्रकार वह अपने घर आई। अब उसका चित्त चचल हो रहा था। आते ही वह पलङ्ग पर पड़ गई।

इधर राजा की सेना में एक विचित्र घटना घट गई। राजा के जितने साथी, सेवक, सैनिक तथा अन्य स्त्री पुरुष थे सभी के मलमूत्र बन्द हो गये। अपान वायु का निकलना बन्द हो गया, सबके पेट फूल गये। कोई हिंगाष्टक चूर्ण खोजने लगा। कोई हीग का फोहा नाभि पर रखने लगा। कोई उत्तान आसन करके वायु को निकालने लगा, कोई कुशा की जड़ को पीने लगा, कोई ऐरंड की जड़ का लेप करने लगा। कोई आक के फूल में अजवाइन काला नमक मिलाकर खाने लगा। कोई पोदीना के सत को धनिये के रस के साथ पीने लगा। कोई कपूर, पिपरमेंट अमाइन के सत्त को पानी में डाल कर पीने लगा। सारांश यह कि जिसे जो भी औषधि याद आई वह उसी का उपचार करने लगा। सब की एक सी दशा थी। सब के पेट फूलकर कुप्पा हो गये थे। मलमूत्र त्यागने की इच्छा हो रही थी, किन्तु किसी का मलमूत्र उतारता ही नहीं था। सभी व्याकुल होकर तड़फड़ाने लगे।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! बिना खाये तो मनुष्य बहुत दिनों तक रह सकता है, किन्तु अपान वायु रुक जाय, मल-मूत्र बन्द हो जाय, तो मनुष्य का जीवन असंभव ही हो जाता है, जब तक जीता है अत्यन्त ही कष्ट होता है। राजा बड़े घबड़ाये। वे समझ गये, यह दैवी प्रकोप है। यह च्यवनाश्रम है। हो न हो किसी ने असावधानी से उन वृद्ध तपस्वी मुनि का कुछ अपकार कर दिया है, वे सबसे एक-एक करके पूछने लगे, किन्तु किसी ने कुछ भी नहीं बताया। इससे राजा बड़े दुखी हुए और वे किंकर्तव्य विमूढ़ बने चिन्ता में मग्न हो गये। वे अपना कुछ कर्तव्य निर्णय ही न कर सके।

छप्पय

यौवन को उन्माद कुतूहल कन्या उर महँ।
उत्सुकता शमनार्थ लये द्वै कंटक कर महँ॥
आँखिनि दये चुभोइ बही धारा शोणित की।
डरी भगी लखि रक्त बढ़ी व्याकुलता चित की॥
इत मुनि वर के कोप तें, सैनिक सब व्याकुल भये।
वेग रुक्यो मल मूत्र को, मृतक सरिस ते ह्वै गये॥

*****

सुकन्या का च्यवन मुनि के साथ विवाह

(६०६)

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद्दुहितरं मुनेः ।
कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात्समाहितः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

लखि देखी उत्पात च्यवन को कोप समुझि मन ।
सोचे हैं यह शान्त च्यवन मुनि को पावन वन ॥
पूछें नृप उत्पात करचो जो मोहि बतावें ।
जानि सुकन्या कृत्य नृपति मन महँ घबरावें ॥
दुहिता लीन्हीं संग महँ, चले तुरत मुनि के निकट ।
प्रकट करचो प्रस्ताव मुनि, ह्वै कें वामी तें प्रकट ॥

भारतीय संस्कृति की एक बड़ी ही सुन्दर सूक्ति है "कन्या को, गौ को उसका पालक पिता जिसके साथ कर देता है, उसी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! च्यवन मुनि का अभिप्राय जानकर राजा शर्याति ने मुनि को अपनी दुहिता दे दी । इससे उस संकट से मुक्त होकर मुनि से आज्ञा लेकर स्वस्थ चित्त से अपने नगर में लौट आये ।

के साथ चली जाती है।' यथार्थ में कन्या और गौ की एक सी ही स्थिति है। जो गौ मरखनी है, स्वच्छन्दचारिणी है, जो कन्या स्वैरिणी हो गई है, शील संकोच कुलोचित सदाचार को तजकर सबके साथ स्वच्छन्द सम्बन्ध करने लगी है जिस समाज में कदाचार और व्यभिचार के लिये प्रोत्साहन है इन सबको छोड़कर जो वास्तव में सीधी सादी गौ है, जो प्राचीन मर्यादा को मानने वाली, कुलवती लज्जावती कन्या है उनको पिता जिनके हाथ में पकड़ा देवे विना ननु नच किये उनके पीछे वे चली जाती हैं। बहुत से दुष्ट पिता उन्हें अपनी आजीविका का साधन बनाकर वधिकों तथा नरपशुओं के हाथों बेच देते है, वे नरक के कीड़े अपने तनिक से स्वार्थ के लिये उनके सम्पूर्ण जीवन को दुखमय बना देते हैं। उन पापियों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं, किन्तु सत्पात्र को दान दी हुई गौ और कन्या, दाता को तार देती है और कुल की कीर्ति को उज्वल बना देती है। वे अपनी पवित्रता पातिव्रत के प्रभाव से असभव बात को भी संभव कर देती हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—' राजन् ! जब महाराजा शर्याति के सैनिक और साथियों का मल मूत्र निरोध हो गया तो राजा बड़े घबड़ाये। समझ गये, यह महत्पुरुषों के अपराध का फल है। अवश्य ही किसी ने भगवान् च्यवन का कोई बड़ा अपराध कर दिया है, उसी के परिणाम स्वरूप यह सामूहिक विपत्ति हम सब पर आई है। अतः वे सबको एकान्त में बुला बुलाकर पूछने लगे—"भाई, देखो, सत्य सत्य बता दो, मैं किसी को दण्ड न दूँगा। किसी ने जान में अनजान में महामुनि च्यवन का कुछ अनिष्ट तो नहीं किया है ?"

सभी हाथ जोड़कर दीनता के साथ कहते—' देव ! हमें तो,

पता तक नहीं भगवान् च्यवन कहाँ रहते हैं। हमने तो अपनी जानकारी में उनका कोई भी अप्रिय कार्य नहीं किया।"

सुकन्या ने जब देखा, मेरे एक के कृत्य से सभी परम दुखी हो रहे है, तो वह डरती हुई काँपती हुई अपने पिता के समीप गई और नीचा सिर करके बोली—"पिताजी! मुझसे एक बिना जाने अपराध अवश्य बन गया है।"

अत्यन्त ही उत्सुकता और ममत्व के साथ महाराज शर्याति ने पूछा—"बेटी! तुझ से क्या अपराध बन सकता है। तू तो बड़ी भोली भाली सरल बच्ची है। तू तो कभी किसी से भूल में भी कटु वचन नहीं बोलती।"

सुकन्या ने लज्जित होकर कहा—"पिताजी! यह अपराध मैंने जान बूझकर नहीं किया है। बाल सुलभ चंचलतावश अनजान में मुझसे यह भारी अपराध हो गया है। एक टीले पर दीमकों का मनुष्य के आकार का मैंने एक टीला देखा था, उसमें दो खद्योतों के सदृश चमकीली दो वस्तु चमक रही थीं। उन्हें जानने के लिये मैंने दो काँटों से उन्हें कोंच दिया, उसी समय उनमें से रक्त बहने लगा। प्रतीत होता है, वे उन महामुनि परम तपस्वी भगवान् च्यवन की आँखें होंगीं।

इतना सुनते ही राजा का मुख म्लान हो गया। वे मंत्रियों और पुत्री को साथ लेकर शीघ्रता पूर्वक मुनि के समीप पहुँचे। मुनि का शरीर दीमक की मिट्टी से ढका था। मानों वे दीमक के घर में बैठे हों। राजा ने मधुर वचनों से मुनि की स्तुति की। राजा की स्तुति सुनकर मुनि ने पूछा—"महानुभाव! आप कौन हैं? मेरी स्तुति क्यों कर रहे हैं?"

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए राजा बोले—"ब्रह्मन् ! मैं मनु पुत्र शर्याति हूँ । महर्षे ! मेरी अबोधा पुत्री ने विना जाने आपका अपमान किया है, आपको नेत्रहीन वना दिया है । प्रभो ! आप मुझ अपने अनुचर पर प्रसन्न हों, मेरे ऊपर अनुग्रह करें और अनजान में किये हुए इस अपराध के लिये आप मुझे क्षमा करें । मैं आपको सिर से प्रणाम करके प्रसन्न कर रहा हूँ और अपनी कन्या के लिये अत्यन्त लज्जित होकर दुख के साथ आपसे क्षमा याचना कर रहा हूँ । ब्रह्मन् ! आप जैसे सन्त तो दीन वत्सल होते हैं, वे अपकार करने वाले से भी प्यार करते हैं । उसका अणुमात्र भी अपकार नहीं करते ।"

राजा ने मुनि की अनुमति से उनके ऊपर की दीमकों की मिट्टी हटवा दी थी, उनका रक्त मांस निराहार व्रत से सूख गया था । चर्म को कहीं कहीं से दीमकों ने खा लिया था । वृद्धावस्था के कारण उनका सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो रहा था । उनकी सब हड्डियाँ गिनी जा सकती थी । शरीर क्या था, अस्थियों का एक मनुष्याकृति ढाँचा मात्र था । मुनि का मुख गंभीर हो रहा था । फूटे हुए नेत्रों से रक्त बहकर जम कर सूख गया था, वे वड़े कष्ट में थे । गंभीरता पूर्वक उन्होंने पूछा—"तुम्हारी पुत्री कितनी वड़ी है ?"

राजा ने दीनता के स्वर मे कहा—"प्रभो ! अव तो वह विवाह योग्य हो गई है । वाल्यावस्था को पार करके उसने युवावस्था में पदार्पण किया ।"

मुनि ने पूछा—"तो उसका अभी तक विवाह नहीं हुआ ?"

राजा ने कहा—"नहीं भगवन् ! अभी कहाँ हुआ है, मैं इसी की चिन्ता में रहता हूँ, कि कोई योग्य वर मिले, तो तुरन्त इसके हाथ पीले कर दूँ ।"

मुनि ने पूछा—"तो, अभी तक कहीं सगाई भी नहीं हुई।"

राजा ने कहा—"नहीं भगवन् ! अभी इसके अनुरूप कोई योग्य वर नही मिलता।"

मुनि ने कहा—"तो उसने मेरी आँखें क्यों फोड़ दीं ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! जान बूझकर तो उसने फोड़ी नही। बालचापल्य के कारण उसने जुगुनू समझकर उसमें काँटें छेद दिये थे।"

मुनि ने कहा—"ऐसा क्या बालचापल्य ? वह कोई दूध पीने वाली बच्ची तो है ही नहीं; तुम कहते हो वह विवाह योग्य हो गई है। तो फिर बालिका कहाँ रही ? मान लो, जुगुनू ही सही। तो क्या उनके प्राण नही होते, कांटा चुभने से वे नहीं मर सकते थे।"

राजा ने निरुत्तर होकर कहा—"हाँ, महाराज ! अपराध तो हुआ ही। इसने अकारण चपलता की।"

मुनि ने कहा—"की, तो उसका फल भोगे ! मुझ से तुम क्या चाहते हो ?"

राजा ने कहा—"महाराज ! मेरी एक कन्या के पीछे सभी साथी दुखी हैं। सबके मल मूत्र का निरोध हो रहा है। सभी तड़प रहे हैं सभी के पेटों में पीड़ा हो रही है।"

मुनिने कहा—"मेरी आँखों में पीड़ा नहीं हो रही है क्या ?"

राजा ने कहा—"भगवन् ! आप तो सर्व समर्थ हैं। जो चाहें कर सकते हैं। आँख तो मैं लगा नहीं सकता और आप जो आज्ञा दें, वही करने को तैयार हूँ। कहे तो सैकड़ों दास दासियों को आपकी सेवा में लगा दूँ। समस्त सुख की सामग्रियाँ आपके समीप पहुँचा दूँ ?"

मुनि ने कहा—"सेवकों ने मेरा क्या अपराध किया है, जो मैं उनसे सेवा लूँ। तपस्वी तो स्वय ही सेवक है। वह सेवकों से कार्य नहीं कराता। जिसने अपराध किया है, उसी को सेवा करनी चाहिये। जिसने मुझे नेत्रहीन बनाया है उसे ही मुझे अपने नेत्रों का आलोक प्रदान करना चाहिये। यही न्याय है, यही धर्म है यही नीति है।"

राजा बुद्धिमान् थे, मुनि के अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपनी पुत्री से कहा—"बेटी! ऋषि तुझे ही चाहते हैं, तेरी क्या सम्मति है?"

सुकन्या ने कहा—"पिताजी! यह मेरा अहोभाग्य है, जो इतने बड़े तेजस्वी तपस्वी महर्षि ने मुझे अपनी सेवा के लिये स्वीकार किया है। मैं अपना सर्वस्व समर्पण करके ऋषि की सदा सेवा करूँगी। आप चिन्ता न करें। मेरे पीछे सबको क्लेश न हो। आप मुझे मुनि को सहर्ष प्रदान कर दें। कन्या के ऐसे दृढ़ता पूर्ण वचन सुनकर राजा को सन्तोष हुआ। बूढ़े मुनि को अपनी परम सुकुमारी प्यारी कन्या देने मे उन्हें दुःख तो अवश्य हुआ, किन्तु क्या करते। एक कन्या के पीछे सहस्रों पुरुष संकट मे पड़े हुए थे। मुनि ने स्पष्ट प्रस्ताव नहीं किया था, किन्तु बुद्धिमान् राजा उनके सकेतों से ही समझ गये, कि मुनि कन्या को चाहते हैं। अपने मन में उन्होंने सतोष कर लिया कि कन्या तो मुझे किसी को देनी ही है। तपस्वी ब्राह्मण से बढकर श्रेष्ठ पात्र कौन होगा। यही त्रुटि है, कि मुनि बूढ़े हैं सो कोई बात नहीं। तपस्या में सब सामर्थ्य है। यही सब सोचकर राजा ने विधि विधान पूर्वक सुकन्या का विवाह च्यवन मुनि के साथ कर दिया।

जब सुकन्या को पत्नी रूप में मुनि ने पा लिया, तो वे परम प्रसन्न हुये। अब उनके नेत्रों तथा हृदय की पीड़ा जाती रही। उन्होंने राजा के ऊपर अनुग्रह की, उनके साथियों और सैनिकों का कष्ट दूर हुआ। सब की वायु यथावत् हो गई। सभी स्वस्थ हो गये। सब के स्वस्थ हो जाने पर राजा ने मुनि के चरणों की वन्दना की और उनकी अनुमति लेकर अपनी राजधानी को चलने के लिये प्रस्तुत हुए। राजा को जाते देखकर सुकन्या के धैर्य का बाँध टूट गया। वह पिता से लिपट कर अबोध बालिका के समान फूट फूट कर रोने लगी। रानियाँ भी खड़ी खड़ी अश्रु बहा रहीं थीं। उस समय दृश्य बड़ा ही करुणा जनक था। राजा का हृदय भी भरा हुआ था। जिस कन्या को राजमहलों में छुई मुई की भाँति अत्यन्त लाड़ प्यार पाला-पोसा था, आज उसे निर्जन वन में बूढ़े मुनि के साथ एकाकी छोड़ने में उनका चित्त चंचल हो रहा था। फिर भी सब भाग्य की विडम्बना समझ कर सह रहे थे। उन्होंने पहिले अपने आँसुओं को पोंछा, फिर कन्या के सिर पर हाथ रखकर बड़े स्नेह से बोले—"बेटी, अब तेरे स्वामी, इष्ट, सर्वस्व ये ही भगवान् च्यवन हैं तू प्रमाद को परित्याग करके निरालस होकर बड़ी सावधानी से इन सर्वज्ञ अपने स्वामी की श्रद्धा सहित सेवा करना। इनकी सेवा करने से तेरे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे।"

अपने पिता के वचनों को सुकन्या ने मौन होकर स्वीकार किया। फिर वह अपनी माताओं से मिली। इस प्रकार माता पिता से मिल भेंट कर वह आश्रम के द्वार तक उनके पीछे पीछे गई। जब सभी लोग दूर निकल गये, तब वह लौट कर अपने बूढ़े पति के समीप आई। उसने राजसी वस्त्रों को उता

कर फेंक दिया। मुनियों के जैसे वल्कल वस्त्र धारण कर दिये। वह शुभानना सुकन्या श्रद्धा सहित अपने स्वामी की, अग्नि की और आगत अतिथि अभ्यागतों की निरन्तर उदारता पूर्वक सेवा में संलग्न रहती थी। उसे यह अभिमान छू भी नहीं गया था, कि मैं राजपुत्री हूँ। तपस्वी ब्राह्मण एक तो स्वभाव से ही प्रायः क्रोधी होते है, तिसपर वृद्धावस्था में तो क्रोध अत्यन्त चढ़ जाता है। मुनि बात बात पर कुपित हो जाते, किन्तु सुकन्या कभी उलट कर उन्हें उत्तर न देती, उनकी सभी आज्ञाओं को सिरसा स्वीकार करती। बिना व्यग्रता प्रकट किये, वह उनकी सेवा करती रहती इस प्रकार अपने तपस्वी पति की सेवा करते करते सुकन्या को बहुत दिन बीत गये। उसकी तपस्या मुनि की तपस्या से बहुत बढ़ चढ़ कर थी। पतिव्रत पालन रूप ऐसा तप है, कि उसकी समता दूसरा कोई तप कर ही नही सकता।

श्री शुक कहते है—"राजन्! संतोष और सेवा का फल मीठा होता है अब सुकन्या की सेवा के सफल होने का सुन्दर समय उपस्थित हुआ। उसे मैं आपको अब आगे सुनाता हूँ। आप ध्यान पूर्वक इस पुण्य प्रसंग को श्रवण करें।

छप्पय

कन्या फोरी आँखि भयो हौं अन्धों भूपति।
नेत्रहीन नर जगत माँहि पावे दुख नित प्रति॥
धर्म कर्म कस करूँ पुण्य पथ कैसे पेखूँ।
कन्या करो प्रदान नेत्र जाके तें देखूँ॥
सुनि नृप अति विचलित भये, परि कन्या सहमत भई।
समुझि बलाबल भूप ने, मुनि कूँ पुत्री दै दई॥

★★

च्यवन मुनि वृद्ध से तरुण हुए

(६०७)

कस्यचित्त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमा गतौ।
तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥*

(श्री-भा० ९ स्क० ३ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

करि कें कन्या दान गये भूपति रजधानी।
पतिसेवा ही तरनि सुकन्या उत्तम मानी॥
अमर वैद्य इक दिवस च्यवन मुनि आश्रम आये।
करि सेवा सत्कार महामुनि वचन सुनाये॥
अति प्रसिद्ध सुर भिषक् तुम, तोऊ हौ अति दुख सहूँ।
करौ वृद्ध तें युवक यदि, जो माँगौ सोई दऊँ॥

व्यवहार में आदान-प्रदान है, तुम यह दो इसके बदले में हम यह देंगे। जहाँ देन लेन है वहाँ व्यवहार है। जहाँ व्यव-

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! किसी काल में एक समय च्यवन मुनि के आश्रम पर दोनों भाई अश्विनि कुमार पधारे। उन दोनों की पूजा करके मुनि उनसे कहने लगे—"आप दोनों समर्थ हैं, मुझे युवावस्था दे दीजिये।"

हार है वहाँ थोड़ा देकर अधिक पाने की कामना है; जहाँ कामना है, वहाँ क्रोध है। जहाँ दोनों ओर से क्रोधी हैं, वहाँ बलवान् क्रोधी की विजय है। निर्बल का मान मर्दन है। यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहार से चल रहा है। मनुष्य देवताओं को बलि प्रदान करते हैं उसके उपलक्ष्य में देवता उनके सुख के साधन जुटाते हैं। पिता पुत्र का पालन पोषण करते है, पुनः उससे आशा रखते हैं वृद्धावस्था में वह हमारी सेवा करे। आजीविका आदान प्रदान पर ही अवलम्बित है। यदि आदान प्रदान न हो तो बुद्धिजीवी भूखों मर जायँ और श्रमजीवी जड हो जायँ। एक वृत्ति वाला दूसरे को सुख सम्बन्धी सामग्री देकर स्वयं उससे अपनी सुविधा की वस्तु लेता है। इसी से सब का जीवन-निर्वाह हो रहा है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! अंधे और बूढ़े च्यवन मुनि उस सुन्दरी सुकुमारी युवती राजकुमारी को पाकर जैसे चाहते थे, वैसे सुखी नहीं हुए। वृद्ध की लालसायें तो बड़ी बड़ी होती हैं, किन्तु इन्द्रियाँ तो अपनी गति से ही काम करती हैं। मन शिथिल नहीं होता, किन्तु कर्मेन्द्रियाँ तो शिथिल हो ही जाती हैं। वृद्ध के लिये युवती स्त्री एक प्रकार की विपत्ति ही बन जाती है। यद्यपि सुकन्या अपनी श्रद्धा और सेवा से सदा भृगुनन्दन तपस्वी च्यवन को प्रसन्न रखने की सर्वथा चेष्टा करती किन्तु वृद्ध मुनि उतने प्रसन्न नही रहते। वे चाहते तो अपनी तपस्या के बल से तरुण हो जाते, किन्तु कुछ सोच समझ कर वे इस काम में अपनी तपस्या को व्यय करना नहीं चाहते थे। संयोग की बात किसी समय देवताओं के वैद्य दोनों भाई अश्विनीकुमार मुनि के आश्रम पर आये। परिचय पाकर मुनि

ने दोनों का बड़ा आदर सत्कार किया। यद्यपि वैद्यों का दर्शन अशुभ समझा जाता है। यात्रा में, श्राद्ध में तथा अन्य शुभ कार्यों में वैद्य आ जायँ तो वे कर्म खंडित माने जाते हैं, किन्तु जो दुखी हैं, आतुर हैं, रुग्ण हैं उनके लिये तो वैद्य जीवनदाता है। उन्हीं लोगों के द्वार पर उन्हें सत्कार मिलता है। च्यवन मुनि तो अंधे और बूढ़े दोनों ही थे। अत: वैद्यों का आदर करना आवश्यक ही था, दूसरे वे अतिथि थे। अतिथि रूप में अपने यहाँ चांडाल भी आ जाय तो उसका भी भगवत् बुद्धि से सत्कार करना चाहिये। इसी लिये मुनि ने अमर वैद्यों का बड़े स्नेह से स्वागत सत्कार किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर हँसते हुए अश्विनी कुमारों ने पूछा—"मुनिवर! यह रूपवती युवती कौन है?

कुछ क्रीड़ा का सा भाव दिखाते हुए च्यवन मुनि बोले—'अजी महाराज! आप लोगों ने नहीं सुना हमने विवाह किया है। यह हमारी धर्मपत्नी है।"

हँसते हुए अश्विनोकुमारों ने कहा—"अच्छा, इस वृद्धावस्था में आपको विवाह की कैसे सूझी। राम राम रटते, इस किच्च पिच्च में क्यों पड़ गये?

च्यवन मुनि ने माथा ठोकते हुए कहा—"क्या करें वैद्यवर! यह भाग्य सब कुछ करा लेता है। हमें तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी, कि फिर गृहस्थी में फँसना पड़ेगा। सस्कार बड़े बलवान् होते हैं।"

आश्वासन देते हुये अश्वनी कुमारों ने कहा—"कोई बात नहीं। अच्छा है आप जैसे सदाचारी ऋषि महर्षि ही गृहस्थ से पृथक हो जायँगे, तो अच्छी सन्तानें कैसे उत्पन्न होंगी?

वास्तव में देखा जाय तो गृहस्थ के अधिकारी तो आप जैसे सदाचारी संयमी तपस्वी मुनि गण ही हैं। इन्द्रिय लोलुप किसी भी धर्म का पालन नहीं कर सकते। आनन्द से धमपूर्वक गृहस्थ धर्म का निर्वाह कीजिये पुत्र पौत्रों की वृद्धि कीजिये।

ममत्व के स्वर में मुनि ने कहा—"धर्म का पालन कैसे करें। आप लोग तो हमारी सहायता करते ही नहीं। हमने सुना है आप सर्व समर्थ हो। आयुर्वेद विद्या में पारगत हो। आप पतले को मोटा कर सकते हो रोगी को निरोग, मोटे को पतला, दुखी को सुखी और वृद्ध को तरुण बनाने में समर्थ हो, मेरे साथ तुम्हारी मैत्री किस काम आवेगी। मुझे भी कोई चूर्ण गुटिका, रसायन या अन्य अवलेह आदि औषधि देकर वृद्ध से तरुण बना दो। तुम्हें बड़ा पुण्य होगा। हम दोनों की एक सी जोड़ी हो जायगी।"

हँसते हुए अश्विनी कुमार बोले—"देखिये महाराज 'आहारे व्यवहारे त्यक्त लज्जा सुखी भवेत्' मित्रता मित्रता के स्थान पर है। व्यवहार में, आजीविका में, वृत्ति में केवल मित्रता से काम नही चलता। व्यवहार तो व्यवहार के ही ढङ्ग से होता है। और आप जानते ही हैं चाहे कोई मित्र भले ही हो आप बनिया और वैद्य तो किसी का मित्र होता नहीं। "खरी मजूरी चोखा काम, इस हाथ देना उस हाथ लेना।" "गौ घास से ही मित्रता करेगी तो खायगी क्या ?" हम अवश्य वृद्ध से तरुण

बना सकते हैं। एक अङ्ग काट कर दूसरा जोड़ सकते हैं। अकाल में मरे हुए को जिला सकते हैं। रोगी को निरोग बना सकते है। आपको भी युवक बना देंगे, किन्तु इसके उपलक्ष्य में हमें क्या मिलेगा ? आप त्यागी विरागी होते, तो बिना मूल्य भी चिकित्सा कर देते। जब आप घर गृहस्थी वाले हो गये हैं तब निःशुल्क चिकित्सा करना हमारा भी अपमान है और आपके भी अनुरूप नहीं।"

च्यवन मुनि ने कहा—"इसकी आप लोग चिन्ता न करें आप लोग जो माँगेंगे वही मैं दूँगा। जो आपकी दक्षिणा होती होगी, वह मैं दूँगा। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।"

अश्विनीकुमारों ने कहा—"देखिये महाराज ! हमें रुपये पैसे की दक्षिणा तो चाहिए नहीं। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसे उसी को देना सब से बड़ी दक्षिणा है। हमें सम्मान चाहिये। देवताओं के राजा इन्द्र ने वैद्य वृत्ति को अधम बताकर हमें देवताओं की पंक्ति से बहिष्कृत कर दिया है। यज्ञ और उत्सवों में वे हमें अपनी पंक्ति में बिठाकर भोजन नहीं करने देते। वैद्य विद्या यद्यपि अधम है, रोते हुए रोगियों से रुपया लेना होता है। बड़ी निन्दित वृत्ति है। फिर भी हम उपकार कितना करते हैं। रोते हुओं को हँसाते हैं। दुखियों को सुखी बनाते हैं, रोगी हमें देखते ही खिल उठता है। इसलिये हम आपसे यही चाहते

हैं कि आप हमें देवताओं की पंक्ति में बैठने का अधिकार दिला दें। यज्ञ याग कराने वाले तो आप ही लोग हैं। आपके ही आवाहन से देवता दौड़े आते हैं। आप यदि हमे पंक्ति में बिठा कर खिलादें, तो फिर हमें उठाने की सामर्थ्य किसमे है?"

यह सुनकर अपनी बात पर बल देते हुए च्यवन मुनि बोले—"अच्छी बात है, यह बात पक्की रही। यह कौन सी बड़ी बात है। देवताओं की पंक्ति में नहीं हम आपको इन्द्र के साथ विठाकर खिलायेंगे। सबके सम्मुख आपका भाग दिलावेगे। मुझे सहर्ष स्वीकार है आप मुझे बूढ़े से युवक बना दें।"

मुनिकी बात सुनकर अश्विनीकुमार बड़े हर्षित हुए। उन्होंने एक कुण्ड बनाया। उसमें अनेक प्रकार की ओषधियाँ छोड़ीं और बोले—"मुनिवर! चलिये, आपका कायाकल्प कर दे। आपको परम रमणीय सुकुमार तरुण युवक बना दें।"

यह कहकर एक भाई ने मुनि का एक हाथ पकड़ा दूसरे ने दूसरा हाथ पकड़ा। उन्हें साथ लेकर तीनों उस महौषधियों से निर्मित सिद्ध कुण्ड में प्रवेश कर गये। कुण्ड में प्रवेश करने के पूर्व मुनि का शरीर अत्यन्त ही क्षीण अस्थियों का पिंजर और नसों का जाल-मात्र था। अश्विनीकुमार कुछ देर तक उन्हें उस कुण्ड में डुबाये रहे। कुछ काल के अनन्तर वे तीनों उछले। सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना नहो रहा। तीनों पुरुषों की आकृति, प्रकृति रूप, रङ्ग, हँसी बोली एक सी ही

थी। तीनों ही परम रूपवान् थे, तीनों ही परम सुन्दर सुगन्धित कमलों की कमनीय मालायें धारण किये हुए थे, तीनों के ही कानों में कनक के कुण्डल दमदमा रहे थे, तीनों ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषणों से सुसज्जित थे। तीनों ही सूर्य के समान तेजस्वी और प्रभावान् थे। उन एक सी आकृति वाले परम प्रभावान् पुरुषों को देखकर सुमध्यमा सती साध्वी सुकन्या किंकर्तव्य विमूढ़ा सी बन गई। वह निर्णय ही न कर सकी, कि इन तीनों में मेरे पति कौन हैं।"

उन तीनों में से एक ने कहा—"सुमध्यमे! हम तीनों से तू जिसे चाहे वर ले।"

सुकन्या ने कहा—"महानुभावो! मैं कन्या तो हूँ नहीं, जो स्वयं वर को वर लूँ। मैं तो ऋषि पत्नी हूँ। मुझे वर वरण नही करना है। मेरे तो पति हैं ही कृपा कर मेरे पति को पृथक् कर दीजिये।"

उनमें से एक बोला—"तू स्वयं ही जिसे पति समझे उसका हाथ पकड़ ले।"

यह सुनते ही सुकन्या ने बड़े मधुर स्वर से पितारूप में अश्विनी कुमारों की स्तुति की। उसकी स्तुति से देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार प्रसन्न हुए और बोले—"सुकन्ये! हम तेरे पातिव्रत्य से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तेरे पति भगवान् च्यवन ये ही हैं। तैंने अपनी सेवा सुश्रूषा तथा विनय के प्रभाव से अपने पति को सन्तुष्ट ही नहीं कर लिया है, उन्हें

वृद्ध से युवक बना लिया है। तेरा अक्षय सौभाग्य रहेगा और तू तपस्वी पुत्र की जननी होगी।"

श्रीशुकदेवजी कहते है—"राजन्! इस प्रकार आशीर्वाद देकर अश्विनीकुमार तो अपने विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक को चले गये और मुनि च्यवन अपनी पत्नी सुकन्या के साथ प्रेमपूर्वक आनन्द विहार करते हुए काल यापन करने लगे।"

छप्पय

कहें अश्विनीकुमर हमें हू सोम पिआओ।
सोम मखनि महँ सदा देव पंगति बैठाओ॥
स्वीकारी यह बात कुण्ड महँ च्यवन न्हवाये।
आयुर्वेद प्रभाव वृद्ध तें युवक बनाये॥
भये एक से तीन नर, विनय सुकन्या ने करी।
अति प्रसन्न सुर भिषक ह्वै, च्यवन दये माया हरी॥

च्यवन मुनि द्वारा प्रतिज्ञा पालन

(६०८)

सोमेन याजयन्वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् ।
असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ३ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

करिकें मुनि कूँ तरुण गये रुजहा पुर जबहीं ।
आये नृप शर्याति च्यवन मुनि आश्रम तबहीं ॥
तरुण निकट निज सुता निरखि नृप अति दुख पायो ।
ह्वै प्रसन्न वृत्तान्त सुकन्या सब समुझायो ॥
सुता वचन शर्याति सुनि, मुनि तनु लखि प्रमुदित भये ।
मख हित कन्या सहित मुनि,वर कूँ लै निज पुर गये ॥

व्यवहार में इसी का नाम सत्य है, जिससे जो कह दें, जिससे जिस बात के लिये प्रतिज्ञा कर दें, उसे शक्ति रहते अव-

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि च्यवन ने वीर शर्याति को सोम यज्ञ कराया । उस यज्ञ में उन अश्विनीकुमारों को अपने तेज से सोम का भाग दिया जो पहिले सोमपान में देवताओं के साथ अनाधिकारी माने जाते थे ।"

श्य पालन करना। जो कार्य कराने के समय तो विनीत बन जाते हैं और कार्य हो जाने पर फिर बोलते भी नहीं। ऐसे स्वार्थी लोग व्यवहार में सफल नही होते। व्यवहार साख पर चलता है। जिसकी लोगों में साख बनी हुई है, वह बिना पैसा के भी धनी है, जिसकी साख बिगड़ गई है, वह धनी होकर भी निर्धन है। साख तभी बनती है, जब हम जिससे जो कह दें, उसका यथावत् पालन करें

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब अश्विनीकुमार महामुनि को तरुण बनाकर देवलोक को चले गये, तब महर्षि अपनी प्यारी-दुलारी राजकुमारी सुकन्या के साथ देवताओं की भाँति विहार करने लगे। दोनों की ही तरुण अवस्था थी, दोनों का ही परस्पर में एक दूसरे के प्रति अनुराग था, तप के प्रभाव से उन्हें वैभव की कमी नही थी। उनके इस ऐश्वर्य से इन्द्र तक ईर्ष्या करने लगे। सुरलोक की रमणियाँ सुकन्या के भाग्य की भूरि २ प्रशंसा करने लगी और उसके सम्मुख अपने रूप सौंदर्य और शील को तृणवत् मानने लगीं।"

इधर महाराज शर्याति के मन में एक यज्ञ करने की इच्छा हुई, उन्होंने सोचा चिरकाल से सुकन्या को नहीं देखा। पता नही उसका क्या समाचार है, मैं उसे शून्यारण्य में उसके भाग्य के ऊपर एकाकी ही छोड़ आया था। युवावस्था बड़ी बुरी होती है। सुकन्या रजमहलों में सुख से पली है। पता नहीं यह वहां प्रसन्न होगी या नहीं। चल कर उसे अपनी आँखों से देख आऊँ और पुत्री तथा दामाद दोनों को यज्ञ में बुला भी लाऊँ। सुना है; च्यवन मुनि कर्म कांड में बड़े निपुण हैं, वे वेदज्ञ तपोनिधि तथा सर्व समर्थ हैं। न होगा तो उन्हे ही यज्ञ

का आचार्य बना देगें। वे यज्ञ बड़ी विधि पूर्वक करावेंगे। यही सब सोच समझकर वे रानी के सहित मुनि को देखने के लिये चले। मुनि के आश्रम की आज अद्भुत ही शोभा थी। पहिले जैसे झाड़ झन्खाड़ वहाँ नहीं थे। आज उसमें पंक्ति बद्ध वृक्ष लगे थे। पाटल, पारिजात, चंपा, गंधराज, आदि सुगन्धित पुष्पों के बहुत से वृक्ष पथों के उभय पार्श्वों में फूले हुए खड़े थे उन पुष्पों की सुगन्धि से सम्पूर्ण आश्रम सुवासित हो रहा था आम, जामुन, कटहल, संतरा, सेव आदि फलवान् वृक्ष य स्थान फलों के भारों से नमित इस प्रकार खड़े थे मानों मुनि विनयी शिष्य सर्वथा अतिथि सेवा के लिये समुत्सुक होक उनके आगमन की प्रतिक्षा में नतकंधर होकर खड़े हों आश्रम में ब्राह्मी श्री का साम्राज्य था। स्थान स्थान पर ताम्रों के पीठ बने थे, यज्ञशाला में सुगंधि को साथ लिये कपोतवरण का धूम अठखेलियां करता हुआ ... जा रहा था और अपने पास की सुगंधनि ... दिशाओं में बिखेरता भी जाता था। आज उस आश्रम ... कर भूपति विस्मय आनन्द और शंका के सहित उसे निहा जाते थे। सम्मुख ही फूले वृक्षो के झुरमुट में लिपे पुते स्व चबूतरे पर उटज के समीप ही, देवांगनाओं की भाँति व भूषणों से सुसज्जित उन्होंने अपनी कन्या को देखा। उ साथ एक तरुण देवकुमार के सदृश पुरुष बैठा हँसी वि कर रहा था। सरसता का सागर उमड़ा हुआ था। स दूर से ही अपने पिता को आते देखकर सुकन्या ठ पति के पास से उठ पड़ी। सिर झुकाकर वह अपने व को ठीक ठाक करके आगे बढ़ी। डब डबाई आँखों उसने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया, किन्तु यह

सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। प्रणाम करने पर भी आज पिता ने न तो मुख से कोई आशीर्वचन कहा और न सुकन्या को अपने हृदय से लगाकर उसका सिर सूघा और न उसके बालों पर हाथ फेरा। वे क्रुद्ध सर्प की भाँति सुकन्या को देखकर खड़े के खड़े ही रह गये। सुकन्या डर गई, वह लज्जा और दुख के कारण निरन्तर पृथिवी को ही निहार रही थी। पीछे खड़ी अपनी माता को प्रणाम करने का भी उसे साहस नहीं हुआ।

पिता ने बड़े दुःख से क्रोध भरे हुए शब्दों में कहना आरम्भ किया—"सुकन्या! मैं तो समझता था, तू हमारे कुल की कीर्ति को उज्वल करेगी, ऋषिपत्नी होकर हमारे यश का विस्तार करेगी, किन्तु तैंने तो हमारे कुल में कलंक लगा दिया। तू इतनी कुलीन कुमारी होकर इतना संयम भी न कर सकी। तेरे पति बूढ़े थे, तो क्या हुआ' वे थे तो ऋषि ही। तपस्या के समुद्र थे, वे तपस्या के प्रभाव से जो चाहते वह कर सकते थे। यदि तू श्रद्धा से उनकी सेवा करती, तो तेरे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाते, दोनों लोक बन जाते। इस लोक में सुख समृद्धि का उपभोग करती, परलोक में पुण्य की अधिकारिणी होती। उनकी सेवा करना तेरा परम धर्म था, सो तैंने उसे न करके लालच वश इस पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लिया! उन अंधे तथा वृद्ध मुनि की वचना की। विषयों की अनुरक्ति के कारण तैंने उन देव सदृश मुनि का परित्याग कर दिया। छिः छिः यह बड़े दुख की बात है। अब तू आज से न मेरी पुत्री रही, न मैं तेरा पिता। तेरे मन में आवे सो कर।"

सुकन्या प्रथम तो अपने पिता के क्रोध के कारण को न

जानने के कारण अत्यंत दुखित थी, जब उसे विदित हो गया कि मेरे पिता इन महामुनि को बिना पहिचाने शंकावश मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह मुस्कराती हुई बोली—"पिताजी! आप क्या कह रहे हैं। आप पहिचान नहीं रहे हैं क्या? जिनके हाथ में आपने स्वयं मेरा हाथ दिया था, वे भृगुनन्दन भगवान् च्यवन ये ही आपके जामाता है।"

आश्चर्य के साथ राजा ने चौंकते हुए कहा—"हाँ! भगवान् च्यवन मुनि ने ही अपना कायाकल्प कर लिया है। बेटी! तू बड़ी भाग्यशालिनी है। यह कह कर उन्होंने प्रथम पुत्री का आलिंगन किया और फिर दौड़कर मुनि के पैर पकड़े। सुकन्या ने अपनी माता को प्रणाम किया। महामुनि च्यवन ने उठकर महाराज शर्याति का सत्कार किया। उन्हें अर्घ्य प्रदान किया। फल मूल से उनका सत्कार करके उन्हें सुन्दर आसन पर बिठाया। रानी भी उनके समीप बैठी।"

तब राजा ने कहा—"भगवन्! यह कायाकल्प कैसे किया?"

हँसते हुये मुनि ने कहा—'महाराज! अपनी पुत्री से ही पूछिये।"

राजा के पूछने पर सुकन्या ने आदि से अन्त तक सब कथा सुना दी। कैसे अश्विनीकुमार आये, किस प्रकार आदान प्रदान का ठहराव हुआ। किस प्रकार औषधियों के कुण्ड में उन्होंने स्नान कराया, किस प्रकार उन्होंने मेरे पातिव्रत की परीक्षा ली।" अपनी पुत्री के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर

शर्याति भूपति के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। प्रेम के कारण उनकी आँखों से अश्रु बहने लगे। उन्होंने बार-बार अपनी पुत्री का आलिंगन किया और बोले—"पुत्रि! यथार्थ में तू मेरी पुत्री है। तैंने मुझे पुंनामक नरक से तार दिया। मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि जब तक पृथिवी में सूर्य चन्द्रमा रहेंगे, तब तक तेरी कीर्ति व्याप्त रहेगी। तू पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी। तेरी कथा अमर होगी और प्रलय पर्यन्त उसका गान होगा।"

यह कहकर वे अपने जामाता भगवान् च्यवन से बोले—"ब्रह्मन्! आप मुझ से ही सोमयाग कराइये और उसी यज्ञ में अश्विनीकुमारों को देवताओं के साथ यथेष्ट सोमपान करा कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये। मै आपका सेवक उपस्थित ही हूँ। आप जैसा भी यज्ञ करायेंगे, वैसा ही मैं करूँगा। जितनी भी सामग्री कहेंगे, उतनी ही मैं एकत्रित करूँगा। अब विलम्ब करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।"

भगवान् च्यवन ने कहा—"राजन्! मैं आपको अवश्य यज्ञ कराऊँगा। आपके यज्ञ से ही यह नूतन परिपाटी प्रारम्भ हो, इससे आपका भी यश दिग-दिगन्तों में व्याप्त रहेगा। यह भी एक परम स्मरणीय ऐतिहासिक घटना आपके यज्ञ में हो जाय। जिसकी सभी लोग कथा कहा करें।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! महाराज शर्याति ने सिर झुका कर मुनि की बात का अभिनन्दन किया। वे अपनी पुत्री और जामाता को बड़े सत्कार के सहित अपनी राजधानी को ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने अचिर काल में ही मुनि की

आज्ञानुसार यज्ञ की समस्त सामग्रियाँ जुटालीं। फिर मुनि ने अन्य वहुत से वेदविधि को जानने वाले वेदज्ञ ब्राह्मणों को बुलाया और उन्हे पृथक् पृथक् कार्यो पर नियुक्त किया। देश देशान्तरो के राजा उस महायज्ञ को देखने आये। महाराज शर्याति ने उदारता की पराकाष्ठा कर दी। जिसने जो भी माँगा उसे वही वस्तु दी गई। जव सोमपान का दिवस आया तो इन्द्र के साथ महामुनि च्यवन चसक-पान में भर कर अश्विनी कुमारों को भी सोम प्रदान करने लगे।"

यह देखकर इन्द्र ने क्रोध के साथ कहा—"मुनिवर! आप अश्विनीकुमारों को 'सोम' क्यों दे रहे हैं? सोमलता तो एक परम पवित्र वल्ली है। शुक्ल पक्ष में उसमे एक एक पत्ता बढ़ता है। पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाते हैं। फिर कृष्ण पक्ष में एक एक पत्ता गिर कर अमावस्या को पत्र हीन हो जाती है। उसको कूटकर उसके रस को मंत्रो द्वारा यज्ञ में देवता ही पान कर सकते हैं। उनसे अवशिष्ट सोम को सोमयाजी पुरुष पान करते हैं। अश्विनीकुमारों को तो आज तक किसी भी सोम यज्ञ में देवताओं के साथ भाग नहीं मिला। आप यह नूतन प्रथा क्यों चलाते हैं?"

यह सुनकर दृढता के साथ च्यवन मुनि ने कहा—"क्या अश्विनीकुमार देवता नही हैं? ये सवसे अधिक सुन्दर तेजस्वी हैं। आयुर्वेद के ज्ञाता हैं। यज्ञ भाग के अधिकारी हैं. इन्हें अब तक यज्ञों में भाग नही मिलता था, तो इनके साथ अन्याय था। अव मैं इस अन्याय को न होने दूँगा, इन्हें देवताओं की पंक्ति में बैठाकर अवश्य सोमपान कराऊँगा।"

इन्द्र ने कहा—"देखो, मुनिवर ! हठ अच्छा नहीं होता। अश्विनीकुमार किसी भी प्रकार सोमपान के अधिकारी नहीं। वैद्यविद्या अधम है। ये स्वर्गलोक में चिकित्सा करते हैं। वैद्यों को किसी भी यज्ञ में भाग नहीं मिलता। शुभकर्मों में उनका आना भी निषेध है। फिर ये मर्त्यलोक में भी वेष बदल कर घूमते हैं। यहां के लोगों की भी चिकित्सा करते हैं। आप ही बताइये ऐसे पुरुषों को यज्ञ में भाग देना यज्ञ भाग के महत्व को घटाना है।"

दृढ़ता के स्वर में मुनि ने कहा—"देखिये, देवेन्द्र ! मैं व्यर्थ वाद विवाद बढ़ाना नही चाहता। अश्विनीकुमारों को यज्ञ भाग देकर यज्ञ भाग के महत्व को घटाना हो या बढ़ाना। मैं इन वैद्य प्रवरों से वचन हार चुका हूँ, मैं इन्हें यज्ञ में सोमपान कराऊँगा, अवश्य कराऊँगा, तुम सब देवों की पंक्ति में बिठा कर इन्हें सोमरस पिलाऊँगा। तुम्हें जो करना हो सो करो।"

इतना सुनते ही इन्द्र को बड़ा क्रोध आ गया। उन्होंने यज्ञ के यजमान शर्याति को मारने के लिये वज्र उठाया। राजा तो डर रहे थे कि यह मेरे जामाता ने क्या गड़बड़ घुटाला कर दिया, किन्तु च्यवन मुनि तो निश्चिन्त थे। उन्होंने एक हुँकार की। उसी समय इन्द्र की बाहु ज्यों की त्यों स्तम्भित हो गयी। इन्द्र तो किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। वज्र चलाना तो पृथक् रहा वे अपनी बाहु को भी हिलाने में असमर्थ हुए। महामुनि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होने अग्नि मे हवन करके उसमें से एक कृत्या उत्पन्न करने का विचार किया। उनके विचार करते ही एक बड़ा भारी असुर यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न हुआ। पर्वत की कन्दरा के समान मुख, लपलप लपलप जिह्वा कर रही है।

सूप के समान कान, हल की फार के समान दाढ़े और गुफा के समान उसकी नासिका थी। तीन योजन लम्बा त्रिशूल लिये हुए वह 'मद' नामका असुर उत्पन्न हुआ उसे देखते ही देवता तो डरकर काँपने लगे। सबने समझा इस तुच्छ बात के पीछे तीनों लोकों का संहार होना चाहता है। तब सब देवता एक स्वर में बोले—"मुनिवर ! हमें कोई आपत्ति नहीं। अश्विनी कुमार हमारे साथ बैठकर सदा सोमपान करें। हम सब आज से इन्हें यज्ञभाग का अधिकारी मान लेते हैं।"

मुनि ने कहा—"तुम सब तो कह रहे हो, तुम्हारा राजा तो कहता ही नहीं।"

तब इन्द्र ने लज्जित होकर कहा—"मुनिवर ! आपकी तपस्या के सम्मुख किसकी मना करने की सामर्थ्य है। आप मन मे जो निश्चय कर लेंगे वह होकर ही रहेगा। महर्षे ! मैं इन अश्विनीकुमारों को आज से सोमपान का अधिकारी मानता हूँ। ये स्वच्छन्दता पूर्वक यज्ञों मे हमारे साथ सोमरस का पान करें।"

यह सुनकर मुनि का क्रोध शान्त हुआ। उन्होंने इन्द्र के हाथ का स्तम्भन निवारण कर दिया। इन्द्र स्वस्थ हुए। अब वह बड़ा भयंकर असुर मुनि से बोला— भगवन् ! मैं क्या करूँ ? मुझे आपने क्यों उत्पन्न किया ? मुझे भी कहीं रहने को स्थान दीजिये।"

तब मुनि ने इन्द्र से सम्मति करके उसे ५ स्थानों में रहने को आश्रय दिया। एक तो युवावस्था में सभी मदमाते हो जाया करेंगे, उन्हें विवेक न रहेगा। हाथियों के गंडों से यह मद फूट

फूट कर निकला करेगा। दूसरा स्थान स्त्री प्रसङ्ग में। उस समय मनुष्य मदान्ध होकर परवश हो जाया करेगा। मदन के साथ जहां मद का संयोग हो जायगा, तहाँ प्राणी आत्म विस्मृत सा बन जायगा। द्यूत—जूए मे। जहाँ १० जुआडी एकत्रित हुए कि फिर आगे पीछे का ध्यान नही रहेगा। सिर पर मद सवार हो जाया करेगा। चौथा स्थान सुरापान में जहाँ पियक्कड़ों में पहुँचे नहीं, तहाँ विवेक नष्ट हुआ नही। पाँचवा स्थान आखेट में प्राणी मदमाते बन जाया करेंगे। इस प्रकार मद को जब ५ स्थान मिल गये, तो वह इन्ही स्थानों में आकर रहने लगा। इसलिए विवेकवान् पुरुषों को इनसे सदा सचेष्ट सावधान रहना चाहिये।"

इन्द्र की स्वीकृति होने पर अश्विनीकुमारों ने आज सर्वप्रथम सब सुरों के साथ यथेष्ट छककर सोमपान किया और मुनि च्यवन के यश का मुक्तकंठ से गान किया। महाराज शर्याति की कीर्ति भी सर्वत्र व्याप्त हो गई। उनका वह यज्ञ एक विशेष महत्वशाली समझा गया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् च्यवन ने शर्याति पुत्री सुकन्या के साथ विवाह करके एक अद्भुत कार्य किया। सुकन्या के गर्भ से महामुनि दधीचि का जन्म हुआ जिनकी कीर्ति तीनों लोक में अद्यावधि व्याप्त है।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! यह मैंने शर्याति

पुत्री सुकन्या का चरित्र प्रसंगवश संक्षेप में वर्णन किया। अब आप शर्याति के पुत्र पौत्रों के वंशों की कथा श्रवण कीजिये।"

छप्पय

सोम याग करवाइ भूप को मान बढ़ायो।
सुर वैद्यनि बुलवाइ सोमरस तिनहिँ पिआयो॥
तान्यो सुरपति वज्र करघो मुनि स्तंभित कर जब।
सोमपान अधिकार सुरनि दीयो वैद्यनि तब॥
लखि प्रभाव मुनि च्यवन को, सबकूँ अति विस्मय भयो।
तनया नृप शर्याति की, को चरित्र पावन कह्यो॥

शर्याति के पुत्रों की कथा

(६०६)

उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः ।
शर्यातिरभवन्पुत्रा आनर्ताद् रेवतोऽभयत् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० २७ श्लो०)

छप्पय

अब मनसुत शर्याति वंश शुभ सुनहु भक्तियुत ।
भूरिषेण उत्तानवर्हि आनर्त भये सुत ॥
छोटे सुत आनर्त द्वारका जिननि बसाई ।
रेवत सुत तिन भये, तासु शत सुत सुखदाई ॥
ज्येष्ठ ककुद्मी सबनि तें, जनक रेवती के भये ।
सुता रेवती संग लै, वर खोजन विधि ढिंग गये ॥

जैसे समुद्र अथाह और अपार है, वैसे ही काल भी निरवधि है। जिस पर छोटा घड़ा है, वह समुद्र में से उसी में पानी भर लाता है। उसे एक घड़ा पानी कहता है, जिसका घड़ा

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मनुपुत्रशर्याति के उत्तानबर्हि आनर्त और भूरिषेण ये तीन पुत्र हुए। महाराज आनर्त के पुत्र का नाम रेवत हुआ।"

बड़ा है वह बड़ा घड़ा भर लेता है। स्वयं जल में कोई नाप नहीं कोई परिमाण नही। ऐसे ही काल का परिमाण है। सूर्योदय से सूर्योदय तक के समय को हम दिन कहते हैं। कोई उसे एक पक्ष कहता है, कोई उसे कल्प कहता है। दिन. रात्रि, वर्ष, कल्प, ये सब प्राणियों की कल्पना है। काल में ये सब कुछ नहीं। वह तो सदा एकरस रहने वाला अनादि, अविभक्त और नित्य है उसमें खंड नहीं, भाग नहीं। वह तो एकरस रहकर क्रीडा कर रहा है। प्राणी उसे लेकर मर रहे हैं कट रहे हैं। उस पर विजय पाना चाहते है, किन्तु भगवत् भक्तों तथा विज्ञानियों को छोड़कर उस पर आज तक किसी ने विजय प्राप्त नहीं की है वह सब को अपने गाल में डालकर निगल रहा है। सब को निर्दयता के साथ चर्वण कर रहा है। जिन्हें खाता है, रोते हैं। दूसरे हँसते हैं अब इतने बड़े हो गये। वे भूल जा हैं हमारे सिर पर यह मुँह बाये विकराल काल खड़ा है, ए दिन हम को भी यह निगल जायगा। यह जानते हुए भी लो अन्धे बने हुए है इस ओर ध्यान नही देते, काल की गति व नही निहारते। यही मायेश की माया है, यही देव की गुणमय विचित्र लीला है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मनु पुत्र शर्याति की पु सुकन्या का चरित्र तो मैंने कह दिया। अब आप उनके पुत्रों वंश का वर्णन सुनें। महाराज शर्याति के तीन पुत्र हुए। जिन नाम उत्तानवर्हि आनर्त और भूरिषेण थे। प्रतीत होता है, इन से आनर्त का ही वंश चला। महाराज आनर्त के रेवत नाम पुत्र हुआ। इन रेवत ने ही आनर्त देश की राजधानी द्वारव या कुशस्थली को बसाया। महाराज रेवत बड़े ही प्रतापशाल तेजस्वी और सामर्थ्यवान थे। उनके १०० पुत्र हुए उनमें ककुद

सबसे बड़े थे, ककुद्मी के एक कन्या थी जिसका नाम रेवती था। उस रेवती का विवाह इस अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के बड़े भाई शेषावतार भगवान् बलराम के साथ हुआ।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कभी-कभी तो आप ऐसी बात कह देते है, जो बुद्धि से परे होती है। देखिये, आप इस समय वैवस्वत मन्वन्तर का वर्णन कर रहे हैं, विवस्वान् के पुत्र श्राद्धदेव जिनको वैवस्वत मनु भी कहते हैं, वे इस मन्वन्तर के अधिपति हैं। उनके इक्ष्वाकु आदि १० पुत्र मन्वन्तर के प्रथम सत्ययुग में हुए होंगे। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग है। इसका अर्थ यह हुआ कि तब से सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग २८-२८ बार बीत गये। एक चौकरी देवताओं के वर्ष से १२००० वर्ष की होती है। अर्थात् मनुष्यों के वर्ष से चारों युग बीतने में ४३२०००० होते है। ये २८ बार बीतें तो ८४०००० वर्ष होते हैं। आठ करोड़ वर्ष पहिले पैदा हुई रेवती का विवाह इस द्वापर के अन्त में बलदेवजी के साथ कैसे हुआ, यह बात बुद्धि में धँसती नही। कृपा करके इसे हमें समझावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज ! काल की तो गणना होती नहीं, काल का विभाग भी नहीं, हम लोग अपनी सुविधा के लिये काल को विभक्त कर लेते हैं। यह एक दिन हुआ, यह पक्ष हुआ, यह महीना हुआ, यह अयन हुआ, यह वर्ष हुआ, यह युग हुआ, यह चौकड़ी, यह मन्वन्तर या कल्प हुआ। स्वयं काल में तो ये भेद हैं नहीं। अन्न की राशि पड़ी है। कोई किसी पात्र से कोई किसी नाप से उसे तोलते हैं, नापते हैं। स्वयं कल्पना

लेते है यह सेर भर हुआ, यह मन भर हुआ, किन्तु अन्न में ऐसा कोई विभाग स्वयं नहीं है। हम मनुष्य जिसे एक दिन कहते है, उसमे बहुत से ऐसे सूक्ष्म जीव है जो अनेकों बार मर जाते है, अनेकों बार जन्म लेते हैं, हमारा एक दिन उनके लिये अनेक जन्मों के बराबर है। हम जिसे शुक्ल और कृष्ण पक्ष कहते है पितरों का वही एक दिन और रात्रि है। हम लोग जिस १२ महीने के समय को एक वर्ष कहते है। देवताओं का वह एक दिन है। ७१ बार से कुछ अधिक चारों युग बीत जायँ तो वह मनु की आयु अर्थात् १०० वर्ष के समान हैं। चारों युग सहस्र बार बीत जायँ, तो वह ब्रह्माजी का एक दिन है। भगवान् का वह एक निमेष भी नहीं है। इस प्रकार काल की सबने अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार कल्पना कर ली है। एक पक्षी १० बिन्दु पानी पीता है, उसका भी पेट भर जाता है, हाथी १० घड़ा पी जाता है, अगस्त्यजी पूरे समुद्र को ही सोख गये फिर भी उनका पेट नहीं भरा। जैसा पात्र होता है उसी के अनुसार वह वस्तु न्यून और अधिक की कल्पना करता है। ऋषियों के लिये अंशावतार, मनु और मनु पुत्रों के लिये १०।२० हजार वर्ष का समय कुछ नहीं है, किन्तु साधारण मनुष्य सत्ययुग में ४०० वर्ष जीते हैं, कलि में १०० वर्ष। ऐसे साधारण लोगों की प्रायः कथायें नहीं लिखी जातीं। जो विशिष्ट पुरुष हैं, जिनकी आयु ;साधारण मनुष्यों मे बहुत अधिक होती है, उन्हीं का चरित्र पुराणों में होता है। यों-प्रसङ्गवश साधारण मनुष्यों का भी उल्लेख हो जाता है। काल बँधा नहीं है। अपनी-अपनी कल्पना से उसे हमने बांध लिया है, जैसे कुएँ का मेंढक कुएँ को ही संसार समझता है उसी प्रकार हम १०० वर्ष की आयु को ही बहुत समझते हैं। यही भगवान् की क्रीड़ा है। यही काल स्वरूप

श्रीहरि की मोहिनी माया है, इसी में भूल कर प्राणी मैं मेरा तू तेरा करता रहता है। इस विषय में आप एक दृष्टान्त सुनिये।

एक बार भगवान् गंगातट पर बैठे हुए थे, नारदजी उनके समीप गये और उनके चरणों में प्रणाम करके बोले—"प्रभो! ये जीव आपका भजन क्यों नहीं करते?"

भगवान् ने कहा—"नारदजी! ये सब मेरी माया में मोहित हो रहे हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! मैंने सब कुछ देखा, किन्तु आपकी माया नहो देखी। वह काली है या गोरी। सुरूपा है या कुरूपा। उस माया को मुझे और दिखा दीजिये।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"नारदजी! तुम ब्रह्मचारी ठहरे। माया तो घर द्वार, स्त्री परिवार पैसा प्रतिष्ठा वालों को घेरती है। तुम इस चटक मटक वाली ठगिनी को देखकर क्या करोगे। इसके देखने से ही तो उन्माद होता है। इसीलिये जहाँ तक हो इसे देखना नही चाहिये। इसकी ओर से आँखें फेर लेनी चाहिये। तुम राम राम रटो माया फाया के चक्कर में क्यों फँसते हो?

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज! एक बार तो मुझे दिखा ही दो। विना जाने इससे कैसे बचा जायगा। एक बार उसे देखने की मुझे बड़ी इच्छा है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, गङ्गाजी में स्नान करके आओ; मैं तुम्हें अपनी माया दिखाता हूँ।"

इतना सुनते ही नारद जी ने अपनी वीणा किनारे पर रख दी। रामनामी दुपट्टा उतारा और शिखा खोलकर गंगा जी में कूद पड़े। ज्योंही नारद जी ने एक डुबकी लगाई त्योंही वे क्या देखते हैं, कि वे एक बड़ी सुन्दरी स्त्री बन गये। अब उन्हें यह बात तो स्मरण थी, कि मैं नारद हूँ, किन्तु शरीर सर्वथा बदल गया। अंग अंग से यौवन और सौन्दर्य का मद फूट रहा था। इतने में ही एक राजा आ गया। वह इनसे हँस हँस कर बातें करने लगा। बहुत बात बढ़ाने की क्या प्रयोजन, दोनों की सांठ गांठ हो गई। राजा ने इनके साथ विवाह कर लिया। अब तो नारद जी रानी बन गये। बाल बच्चे होने आरम्भ हुए दश लड़के और बारह लड़कियाँ हुईं। लड़कों के विवाह किये। लड़कियों को योग्य वरों के साथ जोड़ी मिलाई, स्वयंवर रचाये। विवाह कराये। लड़कों के भी लडके हो गये। राजा मर गये। बाल सफेद हो गये। बुढ़िया के सम्मुख बेटा, नाती पोती, धीय धेवते, उनके भी लड़के बच्चे हो गये। एक दिन बुड्ढी भी लडकों को रोते बिलबिलाते छोड़कर मर गई। उनके सब नाती, पोते, बेटे कुटुम्ब परिवार के लोग बड़ी धूम धाम से बुढ़िया को गंगा किनारे फूँकने के लिये ले गये। वहाँ जाकर उन सब ने चिता बनाई। बुढ़िया को उस में रख दिया, आग लगा दी, धू धू करके चिता जलने लगी।

उसी समय नारद ने जो डुबकी मारे थे, वे तुरन्त उछले। उन्होंने डुबकी मार कर तीन बार अघमर्षण मंत्र पढ़ा था

इतनी ही देर में ये सब कांड हो गये। उन्होंने गंगा किनारे पर देखा कि सहस्त्रों राज घराने के मनुष्य खड़े हुए एक शव को जला रहे है।"

नारद जी उनके समीप गये और बोले—"क्यों भाई तुम किसे जला रहे हो?"

इसपर उनमें से सब से बड़े राजा ने कहा—"हमारी एक बहुत वृद्धा माता थी। १००० वर्ष से भी उसकी बहुत अधिक आयु थी। हम सब उसी के नाती पोते और नगड़पोते हैं। इतना बड़ा परिवार छोड़कर वह आज ही मरी है। हमें महाराज! उसका बड़ा सहारा था। सब की बड़ी देख रेख रखती थी। क्या करें भगवन्! हमारे भाग्य फूट गये एक ही घर में बड़ी बूढ़ी थी, वह भी चल बसी।" यह सुनकर नारद जी हँस पड़े और भगवान् के समीप जाकर बोले—"धन्य है महाराज! आपकी माया तो बड़ी विचित्र है। इसका पार पाना अत्यन्त ही कठिन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी प्रकार भगवान् की माया वश रेवती उत्पन्न तो पूर्व सत्ययुग मे हुई और विवाह इस अट्ठाईसवें द्वापर के अंत में हुआ। उसके विवाह के सम्बन्ध में एक विचित्र घटना घटित हो गई।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कृपी करके उस घटमा को हमें भी सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज ! सुनिये मैं आपको उसे सुनाता हूँ । आप सावधानी से श्रवण करें ।"

छप्पय

तप प्रभाव तें ब्रह्मलोक महँ पहुँचे भूपति ।
निरख्यो सरस समाज होहिं संगीत मधुर अति ॥
गावें गुन गोविन्द चतुर गन्धर्व तहाँ सब ।
नृत्य अप्सरा करें अनवसर समझ्यो नृप तब ॥
कछुक देर ठाढ़े रहे, जब समाप्त गायन भयो ।
तब प्रणाम करि ककुद्मी, निज कारजविधि सनकह्यो ॥

*****

रेवती का बलराम जी से विवाह

(६१०)

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने ।
बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नरायणाश्रमम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ३ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

प्रभो ! रेवती सुता भई लम्बी अति भारी ।
किन्तु योग वर मिल्यो नहीं अबहीं यह क्वारी ॥
जिहि सँग आयसु करें ताहि सँग जाहि विवाहूँ ।
हँसि कमलासन कहैं नृपति अब कहाँ बताऊँ ॥
चारों युग छब्बीस इक, बार बीति भूपति गये ।
पुत्र पौत्र पीढ़ी सहस, नष्ट भूप सुत सब भये ॥

समय के साथ स्वभाव, आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, रहन, सहन, शील, सदाचार सभी बदल जाते हैं । इन गत पचास वर्षों मे ही कितना भारी परिवर्तन हुआ है । ५० वर्ष पहिले जितने

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! राजा ककुद्मी अपनी सर्वांग सुन्दरी कन्या को महाबलवान् बलराम जी को देकर भगवान् नारायण के आश्रम बद्री नामक पुरी में तप करने के लिये चले गये ।"

लम्बे चौड़े हृष्ट पुष्ट पुरुष होते थे, उतने अब नहीं होते हैं। पचास वर्ष पहले जैसी लोगों की पाचन शक्ति और सहन शक्ति थी, वह अब देखने को भी नहीं मिलती। जैसी धर्म भावना आज से १० वर्ष पूर्व थी वैसी अब नहीं। तमोगुणी लोग उसे उन्नति कहते है, विकास बताते है। साधु स्वभाव के सतोगुणी पुरुष इसे अवनति कहते हैं, ह्रास बताते हैं। वास्तव में यह विकास नहीं ह्रास ही है, किन्तु अविद्या माया—का स्वभाव ही है, असत् में सत् बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि मानना। ज्यों ज्यों समय बीतता है, भोग लालसा, भोग सामग्रियों की प्रचुरता होती जाती है, भौतिक वाद बढ़ता जाता है, सत्य धर्म परमार्थ और बल पौरुष क्षीण होता जाता है। जब यह अवनति पराकाष्ठा को पहुँच जायगी, तो फिर एक साथ उन्नति हो जायगी। यही संसार चक्र है। जरा तो शनैः शनैः अवश्य आती है, किन्तु नूतनता सहसा आ जाती है। यह उत्थान पतन का क्रम अनादि है, अनन्त काल तक बना रहेगा।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब मैं रेवत के ज्येष्ठ पुत्र ककुद्मी की रेवती नाम्नी पुत्री का चरित्र कहता हूँ। महाराज ककुद्मी के पुत्र तो १०० थे, कन्या एक ही थी, रेवती। महाराज अपनी इकलौती पुत्री को बड़ा प्यार करते थे। महाराज! वह लड़की रेवती अपेक्षाकृत अधिक लम्बी थी। जैसे आजकल आदमी ३॥ हाथ के होते हैं। सत्ययुग में सब २८ हाथ के होते थे, त्रेता में १४ हाथ के द्वापर में ७ हाथ के और कलियुग में घटते घटते ३॥ हाथ के आदमी हो गये। यह क्षीणता का क्रम अभी चल रहा है। पिता के सदृश पुत्र नहीं होते। रेवती का जन्म तो मन्वन्तर के प्रथम सत्ययुग में हुआ था। हमारे हाथों

से उसे नियमानुसार २८ हाथ लम्बा होना चाहिये था, किन्तु वह इससे भी ऊँची थी। अपने हाथों से तो सब काल में सभी पुरुष ३॥ हाथ के ही होते है। छोटा बच्चा भी, और बूढा भी। इसी प्रकार सत्ययुग में अपने हाथों से सब ३॥ ही हाथ के थे, जैसे हाथ बढ़ता है, वैसे शरीर बढ़ता है। रेवती अपने समय की लड़कियों में बहुत लम्बी मानी जाती थी। बहुत सी लड़कियाँ बहुत ही शीघ्र खजूर की तरह लम्बी हो जाती है। जो लड़के ठिगने होते है, वे चाहे अवस्था मे दुगने ही क्यों न हों, खजूर सी लम्बी लड़को को देखते ही डर जाते है। रेवती की लम्बाई से सभी राजकुमार हिचकते थे। बहुत से राजकुमार रेवती को देखने आये, किन्तु उसे लम्बी देखकर लौट गये। किसी किसी ने तो यह कह दिया हमें अपने सभी महलों के द्वार तुड़वा कर लम्बे बनवाने पड़ेगे। इतनी लम्बी बहू को हम कहाँ रखेंगे। कुछ लम्बे राजकुमार भी आये। राजा अपनी कन्या के लिये सर्वश्रेष्ठ वर चाहते थे। २—४ लडके उन्हें अच्छे योग्य प्रतीत हुए। किसी में कोई गुण विशेष था, किसी में कोई जैसे भोजन के समय कई प्रकार की सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ आ जाती हैं, तो हम निर्णय नहीं कर सकते कि पहिले किसे खायँ, इसी प्रकार स्वय महाराज निर्णय न कर सके, कि किसके साथ अपनी कन्या का विवाह करें।

राजा बड़े प्रतापशाली धर्मात्मा और योगविद्या में निपुण थे। इच्छानुसार चाहें जिस लोक मे इसी शरीर से चले जाते। यही नहीं अपने प्रभाव से जिसे भी चाहते उसे साथ ले जा सकते थे।

एक दिन राजा ने सोचा—"चलो न हो तो ब्रह्मलोक में चलकर ब्रह्मा जी से ही इसका निर्णय करालें कि कन्या का

विवाह किसके साथ करें। वे सर्वज्ञ हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बात जानते हैं। वे इसका भाग्य देखकर जिसके साथ विवाह करने को कह देंगे उसी के साथ इसका विवाह कर दूँगा।"

यही सब सोचकर रेवती को लिये हुए अपनी सामर्थ्य से ब्रह्मलोक मे पहुँच गये। उस समय उन्होंने देखा, ब्रह्माजी के यहाँ समाज लगा हुआ है सगीत का कोई विशेष समारोह है। बड़े बड़े गाने वाले गन्धर्व आये हैं। ऋषि, मुनि तथा देवताओं से सभामंडप भर रहा है। हू हू गन्धर्व बड़े तालस्वर के साथ गा रहा है। महाराज ककुद्मी ने इसे उपयुक्त अवसर न देखकर बीच में कुछ भी न कहा। दूर से ही लोक पितामह ब्रह्माजी को प्रणाम करके एक ओर शान्ति के साथ बैठ गये। कुछ देर तक गाना सुनते रहे। गन्धर्व गाने में बड़ा निपुण था, यह सभा का अन्तिम गाना था। हू हू के पश्चात् और कौन गा सकता है। हू हू एक एक कड़ी को लेकर अनेक लय और स्वरों में गाता। सब लोग तन्मय हो रहे थे। कुछ काल में गायन समाप्त हुआ। सगीत समाज भंग हुआ। ब्रह्माजी ने आगत लोगों से कुशल प्रश्न पुछे। महाराज ककुद्मी ने भी प्रणाम किया और अपनी पुत्री से भी प्रणाम कराया, फिर हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़े हो गये।

हँसते हुये ब्रह्मा जी ने पूछा—"ओ हो! राजन्! आप कब आये?"

विनय के साथ राजा ने कहा—"प्रभो! मैं अभी आया था। आधा मुहूर्त भी न हुआ होगा। हू हू ने गाना आरम्भ ही किया था।"

ब्रह्माजी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है। वहाँ सब कुशल तो है न ? किसी विशेष प्रयोजन से आना हुआ ?"

राजा ने सरलता के साथ कहा—"नहीं, भगवन् ! कोई विशेष बात नहीं। मैंने सोचा, चलो बहुत दिन हो गये हैं, आपके दर्शन भी कर आऊँ और इस लड़की के सम्बन्ध मे भी पूछ आऊँ ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, यह लड़की तुम्हारी ही है क्या ? यह तो भैया, बहुत लम्बी हो गई है, इसका अभी विवाह नहीं किया क्या ?"

ककुद्मी ने कहा—"यही तो महाराज ! मैं आप से आज्ञा लेना चाहता था। इस लड़की की अवस्था तो कुछ विशेष है नहीं, किन्तु खजूर की भाँति बढ ही बहुत गई है। अपेक्षा कृत अन्य लड़कियों से यह लम्बी है। राजकुमार इसे देखते हैं और अधिक लम्बी देखकर डर जाते हैं। दो चार से बातचीत चल भी रही है, उनमे से मैं निर्णय नही कर सका हूँ कि किसके साथ इसका विवाह करूँ। आप आज्ञा दे दें उसी के साथ इसका विवाह कर दूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, बताओ, किन किन के लिये तुमने सोचा है। कौन कौन राजकुमार तुम्हें उपयुक्त प्रतीत हुए ?"

इसपर महाराज ककुद्मी बोले—"भगवन् ! विदर्भ देश का राजकुमार अच्छा है अवस्था में तो इससे बहुत बड़ा है, किन्तु लम्बाई में इससे कम है, लड़का बड़ा सुन्दर है, किन्तु साँवला मन है। मैं चाहता हूँ वर गोरा हो। निषध देश का राजकुमार

वैसे लम्बा भी है, सुन्दर भी है, किन्तु उसकी एक आँख कुछ चढ़ी हुई सी है, उसके पिता का राज्य भी बहुत छोटा है। वैसे लड़का बड़ सुशील है। एक अनूप देश का राजकुमार है, वहा सुन्दर दर्शनीय है। लम्बाई में प्राय: बराबर ही है, मुझे तो लड़का अच्छा लगता है, किन्तु इसकी माँ कहती है कि लड़के की माता बड़ी लड़ाकू है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"राजन् ! आप ये कैसी बातें कह रहे है, जिनके आप नाम ले रहे है, उनके तो नाती-पती सतो क्या सहस्रों पीढियाँ बीत चुकी।"

आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"क्यों महाराज ?"

ब्रह्माजी बोले—"क्यो क्या ? जितनी देर में आपने यहाँ बैठकर संगीत सुना, उतनी देर में पृथिवी पर २७ बार चारों युग बीत चुके। आपके पुत्र पौत्र सहस्रों पीढ़ियाँ हुई नष्ट हो गई। आपके कुल मे अब कोई नहीं रहा। आपके कुछ वंशज रह गये थे, उन्हें यक्षो ने आकर बहुत क्लेश दिया। वे डरकर कुशस्थली को छोडकर भाग गये। तुम्हारी नगरी बहुत दिन तक उजाड़ पड़ी रही। अब आकर बसी है।"

अत्यन्त आश्चर्य के साथ राजा ने पूछा—"महाराज ! हमारे वंश के लोग कहाँ गये ? अब हमारी पुरी पर किन्होंने अधिकार जमा लिया ?"

हँसकर ब्रह्माजी बोले—"अजी, राजन् ! अब तुम्हारा क्या है। अब तो सब गुड़ गोबर हो गया। अब तुम अपने वंशजों के समीप जाओगे तो तुम्हें भूत प्रेत समझेंगे और डरकर भागेंगे। स्वयं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नराकृति में अवनि पर अवतरित हुए हैं। वे लीला करने के लिये मथुरा से भाग

कर कुशस्थली में आकर रहने लगे हैं। तुम्हारे महलों की ईंटों की कौन कहे धूलि भी वहाँ शेष नहीं है। पृथिवी तब से बहुत अधिक ऊँची हो गई है। तब के रजकरण न जाने कितने नीचे दब गये। अब तो वहाँ सुवर्ण की द्वारिका बन गई है। भगवान् श्रीमन्नारायण के अंशभूत महाबली सकर्षण भगवान् ने बलदेव के रूप में श्री हरि के अग्रज बनकर अवतार धारण किया है। राजन्! यह कन्यारत्न उन्हीं नररत्न को दे दो। यह कन्या उन्हीं के अनुरूप है। वे परम दर्शनीय शोभासम्पन्न और बलवान् है। उनकी पत्नी होकर ही यह सुख पावेगी।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! ब्रह्मा जी के वचन तो अलीक होते हैं। ब्रह्मवाक्य टल नहीं सकता। उसमें ननुनच के लिये स्थान नहीं। राजा ककुद्मी योग द्वारा क्षण भर में कुशस्थली आ गये। इतने लम्बे चौड़े पुरुष देखकर सभी लोग डर गये। कलियुगी स्त्री पुरुष महाराज ककुद्मी के सम्मुख ऐसे लगते थे, मानों मिट्टी के छोटे छोटे खिलौने चल रहे हों। चूहे के बच्चों की तरह पुरुषों को देखकर राजा बड़े आश्चर्य में पड़े। फिर भी वे भगवान् के समीप पहुँचे। सभा में भगवान् विराजमान थे, बलदेव जी भी बैठे थे। सुधर्मा सभा में तो कितना भी बड़ा पुरुष आ जाय उतनी ही ऊँची हो जायगी करोड़ों पुरुष क्यों न आ जायँ उतनी ही चौड़ी हो जायगी, क्योंकि वह तो विश्वकर्मा की बनाई हुई दिव्य सभा थी।

राजा ककुद्मी ने भगवान् को और बलदेव जी को प्रणाम करके बलदेव जी से कहा—"प्रभो! आप मेरी इस कन्या को पत्नीरूप में स्वीकार कर लें।"

यह सुनकर सभी सभासद मुँह में कपड़े देकर हँसने

लगे। भगवान् भी पीछे मुख करके हँसने लगे। बलदेव जी ने कहा—"राजन्! मैं तो इतनी लम्बी वहू को लेकर क्या करूँगा। आप कौन हैं, किस लोक के रहने वाले हैं। आप इस पहाड़ से भी ऊँची लड़की को मेरे कंठ मे क्यों बलपूर्वक बाँधना चाहते हैं? यहाँ और भी तो राजा है।"

राजा ककुद्मी बोले—"प्रभो! मैं भी मनुष्य लोक का ही प्राणी हूँ। जहाँ आजकल आप लोग राज्य कर रहे हैं, कभी यहाँ मेरी भी बड़ी समृद्धशालिनी राजधानी थी। महाराज मैं आज से अट्ठाईसवें सत्ययुग में पैदा हुआ था। वैवस्वत मनु के पुत्र महाराज शर्याति का प्रपौत्र हूँ। मेरे पिता का नाम रेवत पितामह का नाम आनर्त और प्रपितामह का नाम शर्याति था। महाराज आनर्त के नाम से ही इन देशों का ही नाम अब तक आनर्त है। ब्रह्मलोक में मुझे क्षण भर गाना सुनने में लग गया। इतनी ही देर में यहाँ २७ बार चारो युग बीत गये। महाराज! इस काल की गति अव्याहत है। यह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। प्राणी प्रमत्त होकर नाना कार्यों में लगे रहते है। किन्तु काल अप्रमत्त भाव से अपना कार्य करता रहता है। मुझे तो ब्रह्माजी ने आज्ञा दी है कि मैं अपनी इस कन्या का विवाह आप के साथ कर दूँ। अब जैसी आपकी आज्ञा हो।"

तब बलदेव जी ने कहा—"भाई, जब ब्रह्माजी की आज्ञा है, तब तो हम क्या कह सकते हैं। उनकी बात को टालने की किसमें सामर्थ्य है। अच्छी बात है, होवें विवाह की तैयारियाँ।"

इतना सुनते ही यादवों में बड़ा हर्ष फैल गया। द्वारिका में आने पर यही सर्व प्रथम विवाह था। श्रीकृष्ण भगवान् की

भी विवाह करने की बड़ी इच्छा थी, किन्तु जब तक बड़े भाई का विवाह न हो जाय, तब तक छोटा भाई विवाह कैसे कर सकता है। उसे परवेत्तापने का पाप लगता है। अब बलदेव जी के विवाह होने से मार्ग खुल जायगा। अब भगवान् विवाहों की झड़ी लगा देंगे। यही सब सोचकर विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। ४-४-५-५ लम्बे लम्बे बाँस जोड़कर मडप बनाया गया। क्योंकि यदि १२-१४ हाथ के बाँसों से बनाया जाता तो रेवती जी भाँवर में कैसे फिर सकती थी। ब्राह्मणों ने मत्र पढे। जब रेवती जो बलदेव जी के साथ भांवर फिरने खड़ी हुई तो सभी हँसने लगे। कोई कहता बहू क्या है, लम्बी चौड़ी खजूर है। अब बलदेवजी को पख लगाने पड़ेंगे कि उड़कर उसके सिर पर पक्षी की भाँति बैठ जायँ। भगवान् तो विनोदी ही ठहरे। बोले—"भैयाजी, भाभी के सिर पर हाथ रखना चाहिये आशीर्वाद भी तो दें। बलराम जी को आया जो क्रोध सो उन्होंने अपना हल उठाकर रेवती के गले में फाँसा और बड़े वेग से एक झटका मारा सो रेवतीजी गोल मटोले हो गई। फिर मूसल से न जाने क्या ठोक पीट करदी, कि वे बलदेव जी के कंधे के बराबर बन गई। यह देखकर सभी साधु साधु कहने लगे। उसी दिन से रेवती जी ऐसी कुछ डर सी गई हैं कि वे बलदेवजी के साथ खड़ी नही होती। मन्दिरों में सर्वत्र लक्ष्मीनारायण, शिवपार्वती, राधाकृष्ण, को साथ साथ देखेंगे, किन्तु रेवती बलरामजी कही भी साथ न दिखाई देंगे। बल-

देवजी इस कोने में होंगे तो रेवती जी दूर दूसरे कोने खड़ी होंगी।

इस प्रकार जब रेवती का बलदेव जी के साथ विवाह हो गया, तो राजा ककुद्मी सुखी हुए। कलियुगी पुरुषों को निस्तेज निर्बल और चूहे बिल्ली के बच्चों की भाँति देखकर वे परम विस्मित हुए। अब उन्होंने पृथिवी पर ऐसे रहना उचित नहीं

समझा। वे अपनी कन्या को प्यार करके तथा भगवान् श्रीकृष्ण और बलदेवजी से सत्कृत होकर उन्हें प्रणाम करके गंधमादन पर्वत पर वद्रिकाश्रम में तपस्या करने चले गये, और अब तक वे दिव्य रूप से वद्रिकाश्रम से आगे कलापग्राम में रहकर तपस्या कर रहे हैं।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने संक्षेप में मनु-पुत्र शर्याति के वंश का वर्णन किया अब आप मनुपुत्र नभग के वंश को श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

प्रकट भये भगवान् भक्त भय हरिबे वारे।
ज्येष्ठ बन्धु बलराम भये तिनि के अति प्यारे॥
तिन संग करी विवाह ककुद्मी सुनि हरषाये।
लई रेवती संग द्वारका छिन महँ आये॥
हर्षि नृपति ने रेवती, बलदाऊ कूँ दै दई।
खैंची हल तें बल बहू, लम्बी ठिगनी कर लई॥

नभग के वंश का वर्णन

(६११)

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् ।
यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० ४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

मनु के इक सुत नभग भये कई तिनके सुत ।
तिन महँ इक नाभाग वेद, विद् पंडित गुनयुत ॥
पढ़न गये धन बन्धु करयो पीछे बटवारो ।
लौटि कह्यो नाभाग कहाँ है भाग हमारो ॥
बन्धु कहे नाभाग तव, पिता भाग तुम्हरे रहे ।
करि प्रणाम नाभाग ने, बन्धु वचन पितु तें कहे ॥

बहुत से लोग सोचते हैं, कलियुग में ही अधर्म, अन्याय अनाचार, कलह, वैर, धूर्तता, वाक्छल, व्यभिचार, पाप, लोभ

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मनु के पुत्र नभग के एक नाभाग पुत्र हुए। उनके बड़े भाइयों ने पैतृक संपत्ति के बँटवारे में पढ़कर लौटने पर उन विद्वान ब्रह्मचारी को दाय भाग में केवल पिता को ही दिया था।"

तथा अन्य सभी दुर्गुण होते हैं। सत्ययुग में इनका अभाव था। सो बात नहीं है। यह सृष्टि गुण दोषों से ही मिलकर है। पाप पुण्य, धर्म अधर्म गुण अवगुण, भले बुरे आदि द्वंद सनातन हैं। अन्तर इतना ही है, सत्ययुग आदि धर्म प्रधान युगों में ये न्यून से भी न्यून नहीं के बराबर रहते थे, और कलि युग जैसे अधर्म प्रधान युगों में इन्ही का प्राबल्य रहता है। धर्म अधर्म दोनों को ही हम अपने पूर्वजों से ही सीखते हैं। पहिले भी लोग छल ले अपने भाइयों के भागों को हर लेते थे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! मनुपुत्र नभग के कई पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम नाभाग था। वह बड़ा ही बुद्धिमान्, ज्ञानी तथा पितृभक्त था। अन्य भाई सब ऐसे ही सांसारिक विचार के थे। और सब तो गुरुकुल में पढ़ने गये और कुछ काल पढ़कर चले आये, किन्तु नाभाग बहुत दिनों तक पढ़ते रहे। नाभाग के अन्य भाइयों ने आकर राज्य के सब देश धन धान्य, गृह आदि सब परस्पर में बांट लिये नाभाग के लिये कुछ भी शेष न रखा।

कुछ काल के पश्चात् नाभाग गुरुकुल से लौटे। लौटकर उन्होने अपने भाइयों को बड़े सुख से राज्य सुख भोगते हुए देखा। सभी के भवन वैभवशाली थे। पिता नभग एकान्त में भजन करते थे। नाभाग ने अपने भाइयों से कहा—"बन्धुओ! मैं भी आप लोगों का भाई हूँ, राज्य में, धन में मेरा भी भाग होना चाहिये। मेरा भाग कहाँ है, मेरे भाग में कौन सा देश आया है?"

उन सब भाइयों ने तो नाभाग का कोई भाग रखा ही नहीं था। अतः सोच समझकर बोले—"देखिये, भाई! सम्पत्ति अनेक प्रकार की होती है, धन, मणि, माणिक्य, धातु आदि

चल सम्पत्ति कहाती है पृथिवी, घर, वाग, बगीचे आदि अचल सम्पत्ति कहाती है। इनके अतिरिक्त चैतन्य सम्पत्ति भी होती है, माता पिता ये भी पुत्रों की सर्व श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं। अत हमने तुम्हारे भाग में पिता जी को रखा है।

नाभाग ने कहा—"वडी अच्छी वात है। यह मेरा वडा सौभाग्य है कि पिताजी भाग में आये है। अब मैं उन्ही की शरण मे जाता हूं।" यह कहकर वे पिता जी के पास गये। पिता के चरणों मे प्रणाम करके वे बैठ गये। पिता ने कुशल प्रश्न पूछे। और यह भी पूछा कि विद्या समाप्त करके समावर्तन संस्कार कराके तुमने अभीतक विवाह किया या नही! तुम्हें किस देश का रज्य मिला है।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी! अभी तक मैंने विवाह नही किया, मेरे भाइयों ने मुझसे कहा है कि. हमने तुम्हारे भाग में पिता जी को रखा है, अतः मैं यही आपके चरणों में रहकर आपकी सेवा करूँगा।"

यह सुनकर महाराज नभग ने हँसकर कहा—"बेटा! उन धूर्तों ने तेरे साथ कपट व्यवहार किया है। तुझे ठगने के लिये उन्होंने ऐसी छल पूर्ण बात कही है। सम्पत्ति तो वह होती है जिससे जीविका का साधन हो सके। मैं तो बुड्ढा हूँ तुम्हारी आजीविका का क्या साधन हो सकता हूँ। उलटे तुम्हें ही मेरी सेवा करनी पड़ेगी। इधर उधर से परिश्रम करके मुझे खिलाना पिलाना पड़ेगा, इसलिये तुम उनके पास जाओ और डाँट डपट कर उनसे अपना भाग माँगो। सीधी उँगली से घी नहीं निकलता। टेढ़ी करने से घी निकल आता है। द्वितिया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, इसलिये उसे सभी नमस्कार करते हैं। तुम उन कपटियों की वातों में मत आओ।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी ! जब उन्होंने मुझे आपको दे दिया है, तो मैं तो आपको ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझता हूँ। इन कंकड़ पत्थर सोने चाँदी की ठीकरियों के पीछे मैं अपने सगे भाइयों से लड़ना नहीं चाहता, मेरे भाग्य में होगा तो बिना दिये मुझे बहुत मिल जायगा। मैं तो अब आप की ही सेवा करूँगा। आपसे बढ़कर संसार में कौन सम्पत्ति हो सकती है। मैं क्षत्रिय पुत्र हूँ, आजीवका तो सब भगवान् चलाते ही हैं।"

नाभाग की ऐसी सत्यधर्म में आस्था देखकर पिता उस पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"देखो, भैया ! मेरे पास धन, रत्न तो अब कुछ नहीं, राज्य मैंने छोड़ ही दिया है, किन्तु तो भी मैं तुम्हें एक धन प्राप्ति का साधन बताता हूँ। यहाँ से समीप ही अङ्गिरस गोत्र के बहुत से ब्राह्मण बहुत द्रव्य लगाकर एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ में वे छठवें दिन के कृत्य को भूल जाते हैं। यज्ञ में जहाँ विधि की तनिक सी भी त्रुटि हुई, वहीं सब गुड़ गोबर हो जाता है। यदि उनका यज्ञ ऐसे ही होता रहा, तो सब यज्ञ निरर्थक हो जायगा। जितना द्रव्य लगा रहे हैं, वह सब व्यर्थ व्यय होगा। यही नहीं राक्षस लोग यज्ञ में छिद्र देखते रहते हैं। विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। वे भूल बहुत बड़ी नहीं करते वैश्वदेव सम्बन्धी दो सूक्त उन्हें स्मरण नहीं आते। इसी से यज्ञ विधिहीन हो रहा है। तुम जाकर इन दो सूक्तों को उन्हें छटवें दिन बता देना। जिससे उनका यज्ञ पूर्ण हो जायगा। यज्ञ के पूर्ण होने पर उनके पास जितना अटूट धन है वे सब तुम्हें देकर स्वर्ग चले जायँगे। तुम उस अपार धन राशि को पाकर मालामाल हो जाओगे।"

नाभाग ने कहा—"पिताजी ! ब्राह्मणों के द्रव्य को दान में लेना यह तो बड़ा भारी दोष है।"

पिता ने कहा—"भैया, तुम दान कहाँ ले रहे हो। यह तो दक्षिणा है। वृत्तिहीन विद्वान क्षत्रिय के लिये यज्ञ करा के दक्षिणा लेने का अधिकार है। दक्षिणा दान नहीं, पारिश्रमिक है। यदि तुम उन्हें ये दो सूक्त न बताओगे, तो उनका सब यज्ञ व्यर्थ हो जायगा, और यदि तुम बता दोगे, तो तुम्हारे कारण उनका सब श्रम सफल होगा। धन लगाना सार्थक हो जायगा। अतः तुम इस विषय में कोई सन्देह मत करो।"

पिता के ऐसे वचन सुनकर नाभाग उन अङ्गिरा गोत्रीय ब्राह्मणों के निकट गये। वहाँ जाकर वे ब्राह्मणों के यज्ञ में सत्कार पूर्वक रहने लगे। जब छठवाँ दिन आया तब उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों ! आप इस छठे दिन के कर्म में मोह को प्राप्त हो जाते है। इसमें वैश्यदेव सम्बन्धी ये सूक्त पढ़े जाते हैं। इन्हें सस्वर विधिविधान पूर्वक पढ़ने से ही आपका यज्ञ पूर्ण होगा।"

ब्राह्मणों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—"राजन् ! आप ने हमारे साथ बड़ा उपकार किया। हम विधिरूप अगाध समुद्र में डूब रहे थे। आपने नौका रूप में उपस्थित होकर हमें तार दिया। विधि का दोष दूर होते ही हम सब इस यज्ञ को समाप्त करके सीधे स्वर्ग चले जायँगे। आपकी ही कृपा से हमारा यह यज्ञ पूर्ण होगा अतः यज्ञ में जो भी कुछ सामग्री अवशिष्ट रहे, वह सब तुम्हारी हुई। यह हमारा आग्रह है, क्योंकि जब तक यज्ञ पूर्ण कराने वाले को दक्षिणा नहीं दी

जाती, तब तक पूर्ण होने पर भी यज्ञ अपूर्ण ही समझा जाता है। अतः हम यज्ञ का सर्वस्व द्रव्य आपको समर्पित करते हैं।"

नाभाग ने कहा—"ब्राह्मणो! जैसे आप लोगों की आज्ञा होगी, वैसा ही मैं करूँगा। मेरे पूज्य पिताजी ने इसके लिये आज्ञा प्रदान कर दी है।"

श्रीशुकदेव जी कहते है—"राजन्! नाभाग की स्वीकृति पाकर वे सब के सब परम प्रसन्न हुए और अपने यज्ञ को पूर्ण करके सब के सब स्वर्ग को चले गये।

ब्राह्मणों का वह यज्ञ बड़ा भारी था। बड़े-बड़े सुवर्ण, के पात्र, बहुत सा द्रव्य तथा अन्य भी बहुमूल्य सामग्रियाँ वहाँ थीं। जब नाभाग उन सब को लेने लगे, तो वहाँ, वे क्या देखते हैं कि एक बड़ा भारी तेजस्वी कृष्णवर्ण का पुरुष दशों दिशाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ शीघ्रता से दौड़ा आ रहा है। नाभाग तो उन अलौकिक देव को देखकर संकपका गये। आते ही उस परम तेजस्वी पुरुष ने ललकार कर कहा—"सावधान-सावधान, यज्ञावशिष्ट किसी भी सामग्री में तुम हाथ मत लगाना। यह यज्ञ भूमि में बचा हुआ सम्पूर्ण द्रव्य मेरा है।"

उन कृष्णवर्ण पुरुष के ऐसे वचन सुनकर दृढ़ता के साथ नाभाग ने कहा—"आपका कैसे है जी, स्वर्ग जाते समय तो ऋषिगण मुझे ही यह सब द्रव्य दे गये हैं?"

उन कृष्णवर्ण पुरुष ने कहा—"किसी की वस्तु को कोई किसी अन्य व्यक्ति को दे जाय, तो वह दान अवैध है। इस द्रव्य का अधिकारी तो मैं हूँ, ब्राह्मण देने वाले कौन होते हैं?"

नाभाग ने कहा—"वैध अवैध का निर्णय राजा करता है। मेरे पिता ने मुझे आज्ञा दी थी, कि दो सूक्त बताने पर ब्राह्मण तुम्हें अपना धन देकर स्वर्ग चले जायँगे। एक तो मेरे पिता ने यह व्यवस्था दी। फिर वेदज्ञ ब्राह्मण स्वयं मुझे दे गये। दोनों प्रकार से मैं द्रव्य का अधिकारी हूँ। फिर ऐसे समय आपका इस द्रव्य पर अधिकार बताना अनुचित है। आपकी अनाधिकार चेष्टा है।"

उस कृष्णवर्ण के तेजस्वी पुरुष ने कहा—"अच्छी बात है, हमारे तुम्हारे इस विवाद के निर्णय कर्ता तुम्हारे पिता ही हैं। तुम अपने पिता से जाकर पूछो, कि इस प्रकार का एक पुरुष यज्ञावशिष्ट द्रव्य पर अपना अधिकार बता रहा है। यह सुनकर तुम्हारे पिता जो भी निर्णय करदें वही हमें स्वीकार है।"

यह सुनकर, नाभाग अपने पिता के समीप गये। उन्होंने आदि से अन्त तक सभी वृत्त कह सुनाया। सब कुछ सुनकर नाभाग ने कहा—"पुत्र! मुझसे बड़ी भूल हो गई। वे तो स्वयं साक्षात् रुद्र भगवान् हैं। दक्ष के यज्ञ में जब रुद्र का भाग नहीं निकला था, तो रुद्र के गणों ने आकर यज्ञ को विध्वंस कर दिया था। तभी देवताओं ने और ऋषियों ने यह निर्णय कर दिया था कि आज से यज्ञों में जो भी कुछ बचा करेगा, उस सबके स्वामी रुद्र भगवान् ही होंगे। अतः न्यायतः उस यज्ञावशिष्ट समस्त सामग्री के स्वामी सर्वेश्वर श्री शिव ही हैं। अवशिष्ट के ही नहीं, वे ही तो यज्ञों के अधीश्वर हैं, वे सबके ही एकमात्र स्वामी हैं। वे शिवनाथ चराचर के ईश्वर हैं। उनसे तुम वाद विवाद मत करो। उन्हें सर्वस्व समर्पित कर दो।"

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर नाभाग पुनः वहाँ गये और हाथ जोड़कर उन रुद्र भगवान् से बोले—"भगवन् ! मैं आपके चरणों में शिर से प्रणाम करता हूँ। मेरे अपराध को क्षमा करें। मेरे पिता ने कहा है ये सब वस्तुएँ शिव की ही है। प्रभो मैं इस सब को और अपने आपको भी आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आप मेरे अनुचित आग्रह के अपराध को क्षमा करें और मुझे अपनावें।"

यह सुनकर आशुतोष भगवान् भवानीपति नाभाग के ऊपर परम प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! तुम धर्मात्मा हो। तुम्हारा धर्म है अविचल मति है। तुम्हारे पिता ने भी पुत्र का पक्षपात न करके धर्म पूर्वक ही निर्णय कर दिया। तुमने भी लोभ न करके उसे मेरे सम्मुख सत्य सत्य कह दिया। अतः मैं तुम्हें सनातन ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हूँ। इस ज्ञान को पाकर तुम कृतार्थ हो जाओगे। इस सम्पूर्ण धन को भी तुम मेरी आज्ञा से उठा ले जाओ।"

जब भगवान् रुद्र ने प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा और उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर तुरन्त वहाँ से अन्तर्धान हो गये, तब तो नाभाग को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उस धनराशि को लेकर पिता के समीप पहुँचे। वे अपने सभी भाइयों से धनी हो गये थे। उन्होंने उस धन से सेना एकत्रित की। बाहुबल से विशाल राज्य स्थापित किया और वे चक्रवर्ती सम्राट बन गये। इन्हीं नाभाग के पुत्र महाभागवत अम्बरीष हुए। इनके यश से अभी तक तीनों लोक व्याप्त हैं। जो बड़े ही शूर, वीर, दानी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्राह्मणभक्त और एकादशी व्रत में निष्ठा रखने वाले थे। वे इतने तेजस्वी और भगवद् भक्त

थे, कि रुद्रावतार महामुनि दुर्वासा का कभी व्यर्थ न होने वाला शाप उनके ऊपर व्यर्थ हो गया ।

यह सुनकर अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ महाराज परीक्षित ने पूछा—"प्रभो ! महर्षि दुर्वासा ने परम भागवत महाराज अम्बरीप को शाप क्यों दिया और वह अप्रतिहत शाप व्यर्थ कैसे हुआ ? कृपा कर इस प्रसंग को हमें और सुना दीजिये। उन परम प्रभावशाली महाबुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीष के पावन चरित्र को सुनने की मेरी बड़ी उत्कट अभिलाषा है।"

यह सुनकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ! जिस प्रकार दुर्वासा का छोड़ा हुआ दुस्तर ब्रह्मदण्ड राजर्षि अम्बरीष के प्रति व्यर्थ हो गया, उस परम पावन उपाख्यान को मैं सुनाता हूँ, आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।

छप्पय

सुनि सुत वचन उपाय नभग ने नयो बतायो ।
करे यज्ञ आङ्गिरस पष्ठ दिन कृत्य भुलायो ॥
तिन्हें बताओ जाय सुनत नृप सुत तहँ आये ।
कृत्य बताओं द्विजनि दयो धन स्वर्ग सिधाये ॥
रुद्र द्रव्य अपनो कह्यो, नभग समर्थन हू करयो ।
तब अर्पित सरबसु करयो, शिव प्रसन्न ह्वै वर दयो ॥

★★★

अम्बरीष चरित्र

(६१२)

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत्स्वप्नसंस्तुतम् ।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत्पुमान् ॥*

(श्री भा० ९ स्क० ४ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

हर वर तें नाभाग भयो जग महँ अति ज्ञानी ।
अम्बरीष सुत तासु यशस्वी-दृढ़ व्रत दानी ॥
सप्तद्वीप को अधिप अतुल वैभव सब पायो ।
किन्तु स्वप्न सम समुझि कृष्ण चरननि चित लायो ॥
भयो चित्त चितचोर को, सरस माधुरी पान करि ।
भयी जीभ यश नाम को, नित्य निरन्तर गान करि ॥

जो इस जन्म में दरिद्री ही होकर जन्मे हैं और जिन्हें धन की संसारी भोगों की कभी स्पृहा ही नहीं हुई है, जो जीवन

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाभाग अम्बरीष इस सप्त-द्वीपवती पृथिवी के राजा थे । इतनी बड़ी पृथिवी, अव्यया लक्ष्मी पृथिवी में अतुल वैभव मनुष्यों के लिये इन सब अति दुर्लभ वस्तुओं को पाकर भी वे इन को स्वप्न के पदार्थों के समान ही समझते थे ।"

भर धन और विषय भोगों से पृथक् हो रहे हैं। उनके विषय में तो कहना ही क्या है! वे तो पुण्य पाप से परे के प्राणी हैं, किसी विशेष कारण वश उन्होंने लोक में जन्म ग्रहण कर लिया है, वास्तव में तो वे अलौकिक महापुरुष हैं। उनकी बातें छोड दो, किन्तु जो धन वैभव, ससारी भोगों की समस्त सामग्रियों के रहते हुए भी, उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देखते, उन्हें स्वप्न के समान, गन्धर्व नगर के सदृश समझकर सदा भगवत् परिचर्या में ही निमग्न रहते हैं, वे वड़े ही भाग्य शाली पुण्यात्मा और अद्वितीय महापुरुष हैं। वे भगवान् के परम अनुग्रह भाजन हैं। नही तो धन वैभव का मद तो प्राणियों को मदोन्मत्त बना देता है। वे स्वार्थ परमार्थ सभी को भूल कर विषयों के गहन वन में, भटककर, पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। पुण्यश्लोक, महाभाग अम्वरीप उन्ही प्रात: स्मरणीय भगवद् भक्तों में से एक आदरणीय राजर्षि भक्त हो गये है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् मैंने तुम्हें मनुपुत्र नभग के पुत्र नाभाग का शिवभक्ति पूर्ण परम रहस्यमय चरित्र सुनाया। अब आप उनके पुत्र परम भगवद्भक्त राजर्षि अम्वरीप के चरित्र को श्रवण करें।"

नाभाग तनय महाराज अम्बरीप की भक्ति संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है। वे इस सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एकमात्र अधिपति थे। उन्हें वे सव सुख की सामग्रियाँ सरलता और सुविधा के साथ प्राप्त थीं, जिनका प्राप्त करना पृथिवी के नरपतियों की तो बात ही क्या, अमरों के अधिप इन्द्र को भी दुर्लभ थीं। उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नही थी। समस्त धन, ऐश्वर्य रिद्धियाँ सिद्धियाँ तथा अन्य सामग्रियाँ उनके अधीन थीं।

इतना अतुल ऐश्वर्य होने पर भी वे उसमें रञ्चक मात्र भी आसक्त नहीं थे। वे उन सभी पदार्थों को अशाश्वत, मिथ्या और नाशवान् मानते थे। उन्होंने अनुभव के द्वारा निर्णय कर लिया था, कि सब कल्पनायें मिथ्या हैं इनके सेवन से तृप्ति नहीं, सुख नहीं, शान्ति नहीं।

राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! इन संसार के पदार्थों में तो बड़ा आकर्षण है। धन पाकर मद होना स्वाभाकि है, ऐश्वर्य पाकर अभिमान बढ़ ही जाता है, आकर्षक वस्तु सम्मुख आने पर मन फिसल ही जाता है। महाराज अम्बरीष युवक थे, उनके यहाँ धन सम्पति की कुछ कमी नहीं थी, सप्तदीपा वसुमति के वे एकछत्र शासक थे। फिर भी उनका चित्त विषयों में आकर्षित क्यों नहीं हुआ?"

यह सुनकर श्री शुक ने कहा—"राजन्! उन राजर्षि अम्बरीष की भगवान् वासुदेव में तथा भगवान् के भक्तों में सहज स्वाभाविक भक्ति थी। महाराज! जिसने मिश्री का स्वाद चख लिया है वह चीनी के मैल सीरा को खाकर, प्रसन्न क्यों होने लगा। जिसकी मैत्री राजा से हो गई है; वह द्वारपाल की अनुनय विनय क्यों करने लगा? इसी प्रकार जिन्हें प्रभु का प्रेम प्राप्त है, वे इस जगत् की सम्पत्ति को तृणवत् समझते हैं, उनकी दृष्टि में पत्थर में और सुवर्ण में कोई अन्तर नहीं रह जाता। भगवद् भक्त चाहे चक्रवर्ती हो या भिखारी दोनों ही दिशा में वे परम संतुष्ट रहते हैं।

राजा परीक्षित ने पूछा—"भगवन्! मन तो एक ही है, उसे राजा भगवान् में लगाते थे या राजकाज में?"

इस पर श्री शुक ने कहा—"महाराज ! उन्होंने अपने मन को श्री कृष्णचरणारविन्दों में ही लगा रखा था। ऊपरी मन से वे राजकाज तथा अन्य व्यवहार करते थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऊपरी और भीतरी मन कैसा यह बात हमारी समझ में नहीं आई।"

सूतजी कहने लगे—"महाराज ! आपने कभी ब्रजमंडल की यात्रा की होगी। ब्रजवासियों की स्त्रियाँ गाँव से दूर कुँए पर पानी भरने जाती हैं। एक-एक स्त्री ४-४, ५-५ घड़े एक साथ पानी भर कर लाती हैं। एक के ऊपर एक ऐसे २-२ ३-३ घड़े तो वे सिर पर रख लेतीं। एक घड़े को बगल में दबा लेती हैं और फिर रस्सी को भी कंधे पर डालकर चलती हैं। सिर के घड़े को हाथ से छूती भी नहीं। १०-१०, ५-५ साथ जाती हैं। जिसके घर में बड़ी बूढ़ी सास हैं, वह स्वयं ही पानी भरने जाती है। बड़ी बूढ़ियों को कुलवती बहुएँ न चक्की पीसने देतीं हैं, न पानी भरने जाने देती हैं। रोटी भी नहीं बनाने देती। घूँघट मार कर रोटी बनाती जाती हैं, बड़ी बूढ़ी परसती हैं। परसने का अधिकार बहुओं को नहीं होता। यदि वे सास के रहते अपने जेठ को या पति को भोजन परस दें तो घर भर में लड़ाई हो जायगी। सास मुँह फुलाकर बैठ जायगी। सब से कहेगी—"अब तो घर मे हमें कोई पूछता ही नहीं। बहुएँ आते ही बड़ी बूढ़ी बन गई हैं। अपने मालिक को स्वयं परसकर खिलाने लगी हैं। बहुएँ क्या करें, वे सब चुपचाप सुनती रहती हैं। जब अपनी सखी सहेलियों के साथ पनघट पर पानी भरने जाती हैं। तो देखो उनके ठाठ मेरी सास ने यह कहा—उस पर उन्होंने यह कहा—आने और जाने में पूरे दिन भर

की दैनन्दिनी कह डालती हैं। किन्तु सिर पर रखे हुए घड़ों को नहीं भूलतीं। ऊपर के मन से तो घर गृहस्थी की सब बात करेंगी। लड़का यदि रोता हुआ आवेगा तो उसे भी उठाकर गोद में ले लेंगी, किन्तु मन घड़े में ही रहेगा। जहाँ मन घड़े से पृथक हुआ कि घड़ा फड़ाक से फूट जायगा, गिर जायगा। घर में दिन भर लड़ाई होगी, सास ननद न जाने कितनी बार अंधी बतावेंगी। सो महाराज, जैसे उन व्रजवासिनी स्त्रियों का मार्ग में आते समय निरन्तर मन पानी के घड़े में रहता है और ऊपर से घर गृहस्थी की बातें करती हैं, वही दशा महाराजअम्बरीष की थी। ऊपर से राजकाज करते हुए, मनमधुप सदा माधव की माधुरी का पान करता रहता था।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! फिर भी तो इन इतने आकर्षक विषयों में राजा का मन कुछ न कुछ तो लगता ही होगा, ऐसा न होता तो वे छोड़कर चले क्यों न जाते?"

सूतजी ने कहा—"महाराज वे जायँ कहाँ। सर्वत्र तो ये ही पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश तथा प्रकृति के निर्मित पदार्थ हैं। ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ माया का पसारा न हो, जहाँ भगवान् न हों। जब सर्वत्र भगवान् हैं, तो यह मन का भ्रम है कि यहाँ बन्धन है यहाँ स्वतन्त्रता है। जिसके मन में बन्धन है, उसके लिये सर्वत्र बन्धन है, जिसका मन वश में है उसके लिए सर्वत्र एक सा है। मन के हारे हार है मन के जीते जीत। विषय का बीज तो यह मन है। मन जहाँ मनमोहन की माधुरी पान करके मतवाला हुआ नहीं कि फिर सम्पूर्ण संसार फीका ही फीका दिखाई देता है उसके लिए घर और वन में कोई अन्तर नहीं। "मन हाथ भयो जिनके

तिनके बन ही घर है, घर ही बन है" इस विषय में मैं आपको एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, सुनिये।

एक बार नारद जी ने सोचा—"महाराज जनक को सब लोग विदेह कहते हैं। इतने सब राज काज करते हुए वे विदेह कैसे बने रह सकते हैं।" यही सब सोचकर वे महाराज विदेह के समीप गये राजा ने उनका बड़ा सत्कार किया, राजा से सत्कृत होकर मुनि बैठ गये। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"राजन्! आप गृहस्थ में रहकर भी विदेह कैसे हैं। ऋषि मुनि आपके ज्ञान और तप की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं? नाना राजकाज और झंझटों में फँसे रहने पर भी आपका मन सुख दुखों से निर्लिप्त कैसे बना रहता है? इस विषय में मुझे बड़ा सन्देह है। मेरे सन्देह का आप निवारण करें।

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! ऋषि, मुनि, तपस्वी, ब्राह्मण मेरे ऊपर अत्यन्त अनुग्रह करते हैं। मेरे प्रति उनका सहज स्नेह है, जिससे स्नेह होता है उसके प्रति पक्षपात हो ही जाता है। इसीलिये प्रेम वश ऋषि-मुनि मेरी बड़ाई करते हैं, नहीं तो कहाँ मैं घर गृहस्थ में फँसा प्राणी, कहाँ आप सर्वस्व त्यागी विरागी महापुरुष?"

नारदजी ने कहा— "राजन्! यह तो आप शिष्टाचार की बात कह रहे हैं, ऐसी बातें कहकर ही मुझे टरकाना चाहते हैं। रहस्य की बातें बताने की आपकी इच्छा प्रतीत नहीं होती, जब समर्थ पुरुष किसी को किसी विषय का अनधिकारी समझते हैं, तो उसे इधर उधर की बातें पूछकर टाल देते हैं, उसकी प्रशंसा कर देते है। आप ऐसा न करें

राजा ने हँसकर कहा—"ब्रह्मन् ! आज मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। प्रसाद पाने के अनन्तर फिर इस विषय में विचार विनिमय होगा।"

नारद जी ने स्वीकार कर लिया। ५६ प्रकार के भोजन बनाये गये। भगवान् का भोग लगाकर श्रद्धा पूर्वक मुनि को प्रसाद पवाने बैठाया गया। सुन्दर रंग बिरंगा आसन सुवर्ण की चौकी पर बिछाया गया। सोने चाँदी के बर्तनों में सुस्वाद पदार्थ परोसे गये। परोसते समय खीर में साग डाल दिया, साग में हलुआ मिला दिया। चटनी में कोई कटु वस्तु मिला दी। मुनिवर ज्यों ही आसन पर बैठे कि उन्होंने ऊपर देखा उनके सिर पर कच्चे धागे में नंगी करवाल (तलवार) लटक रही है। मुनि ने मन ही मन सोचा कि राजा ने संभव है मेरे साहस की परीक्षा के लिये ऐसा किया हो, अतः वे कुछ भी न बोले। फिर भी प्राणों का मोह तो सभी को होता है। मुनि के मन में खुटका तो लगा ही हुआ था। भय में, द्वेष में, प्रेम में, चित्त तन्मय हो जाता है। मुनि का ध्यान उस तलवार में तन्मय हो गया। राजा बार बार पूछें—"ब्रह्मन् ! खीर कैसी है ? साग कैसा है ?" नारद जी का मन तो तलवार में लगा था। हाँ, हूँ कर देते, जैसे तैसे खा पीकर उठे। राजा ने स्वयं हाथ धुलाये और बड़े आदर के साथ पूछा—"ब्रह्मन् ! कहिये भोजन कैसा रहा ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! आपके भोजन का क्या कहना ! आप तो परम भागवत है।"

राजा ने पूछा—"महाराज सत्य सत्य बतावें कौन सा पदार्थ आपको अधिक प्रिय लगा।"

यह सुनकर हँसते हुए नारद जी ने कहा—"राजन् ! यदि

आप सत्य पूछते हैं, तो मुझे पता भी नहीं कौन कौन सी वस्तु मेरे सम्मुख परोसी गई और क्या क्या मैंने खाये। स्वभाव-वश ग्रास को हाथ से मुखमें डालता जाता था वह कंठ के नीचे उतरता जाता था। खट्टे मीठे का मुझे कोई स्वाद नहीं था मेरा चित्त तो उस ऊपर लटकती हुई तलवार में फँसा था।"

राजा ने हँसकर कहा—"ब्रह्मन्! यही आपके प्रश्न का उत्तर है। मेरा मन तो भगवान् में फँसा रहता है। शरीर से राजकाज स्वभाव-वश होते रहते है। उनमें मेरी आसक्ति नही, स्पृहा नहीं जो हो रहा है सब भगवत इच्छा से होता है। यही भावना दृढ़ है। मैं पृथक् हूँ, देह मुझसे पृथक है यह निष्ठा मेरी दृढ़ है इसीलिये "ऋषि मुनि मुझे विदेह कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यही दशा महाराज अम्बरीष की थी। उनका मन सदा प्रभु के पाद पद्मों में तल्लीन रहता था। शरीर के स्वभाव-वश और कार्य होते रहते मन वहीं अटका रहता। इसी का वर्णन मेरे गुरुदेव श्री शुक महाराज परीक्षित् से कर रहे थे कि राजन्! राजर्षि अम्बरीष के समान भागवद् दूसरा कौन भूपति होगा। उनके सभी अङ्ग प्रत्यंगों की समस्त क्रियायें कृष्ण कैंकर्य में ही काम आतीं। वे अपनी वाणी से निरंतर भगवान् के मधुमय मधुर नामों का स्वर सहित उच्चारण करते। भगवान् के त्रैलोक्य पावन यश का पदों द्वारा गायन करते वाद्यों में उन्हीं को बजाते। गोविन्द-गुन गा गाकर गोवर्धनधारी को ही रिझाते। अपने हाथों से ही वे भगवान् के मन्दिर का मार्जन करते। उसे स्वच्छ जल से धोते। भगवान् पर चढ़ाने के लिये वाटिका से स्वयं ही पुष्प और तुलसी दल लाकर चढाते भगवान् के पार्षदों को अमनियाँ करते। भगवद् सेवा की उपयोगी सामग्री को वे स्वयं जुटाते, स्वयं स्वच्छ करते

स्वयं ही निर्माल्य को हटाते और पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुगीफल दक्षिणा द्रव्य, आरती, स्तुति और प्रदक्षिणा करके विधिवत् पूजा करते। उनके कानों का उपभोग कृष्णकथा श्रवण में ही होता। वे परनिंदा, परचर्चा के समय बधिर बन जाते। सुनकर भी उन बातों को अनसुनी कर देते। जो भी उनके पास ऋषि मुनि, विद्वान, ब्राह्मण आते उन्हीं से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते "महाराज कृष्णकथा सुनाइए। भगवत् चर्चा होने दीजिये। उनके श्रवणों को पुण्य श्रवण परात्पर-प्रभु के पावन यश के सुनने का व्यसन सा पड़ गया था। वे बिना कृष्ण कथा सुने व्याकुल से बने रहते थे, जैसे अफीमची अफीम के बिना व्याकुल बना रहता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! उन धर्मात्मा भगवद् भक्तराज की समस्त इन्द्रियों का उपभोग भगवान् के ही लिये होता था, उनकी भक्ति के सम्बन्ध में मैं आगे बताऊँगा। इस परम भागवत् राजर्षि के चरित्र को आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

करें कृष्ण कैंकर्य कमल कर नृप के नित प्रति।
कृष्ण कथा सुनि कान उभय होवें प्रमुदित अति॥
माधव मन्दिर माँहि निरखि मन मोहन मूरति।
छल छल छलकें नयन कमल सम होवें विकसित॥
मिलें भक्त भगवान् के, गाढ़ालिङ्गन नृप करहिं।
पुलकित होवें अंग अंग, पाप ताप जग के जरहिं॥

मुकुन्द लिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥*
(श्री भा० ६ स्क० ४ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

चरण चढी चितचोर मंजरी तुलसी जी की।
घ्राणेन्द्रिय लै गन्ध जगावै सुधि निज पी की ॥
नंद नंदन नैवेद्य पाइ रसना हुलसावै ।
बिनु अर्पित यदि अमृत मिलै तोऊ नाहिं खावै ॥
निरखि नमित ह्वै जात सिर, निज प्रभुपद पंकजनिकूँ ।
चरण चलें अति हुलसिकें हरि क्षेत्रनि दरशननिकूँ ॥

जिसकी जो वस्तु है, यदि वह उसके काम नहीं आती तो वह उसके लिये निरर्थक है। जो जिस कार्य के लिये है और वह

---

*श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! महाराज अम्बरीष के नेत्र भगवान् की मूर्ति और उनके मन्दिरों के दर्शन करने में लगे रहते थे, उनके अङ्ग भगवान् के भक्तो का गाढालिंगन करने में सुख पाते थे, उनकी घ्राणेन्द्रिय का उपभोग भगवान् के चरणों में चढी तुलसी की गंध सूंघने में होता था और उनकी रसना भगवान् के भोग का ही स्वाद जानती थी।"

उस कार्य को नहीं करता तो वह चोर है। भगवान के बनाये हुए शरीर का प्रत्येक अङ्ग उनकी चल अथवा अचल किसी भी मूर्ति की सेवा में लगे यही उन अङ्गों की उन इन्द्रियों की सार्थकता है। केवल भोजन खाकर मांस को बनाते रहे और विषय वासना में लिप्त होकर पापों को बढ़ाते गये, तो यह तो अमूल्य मनुष्य जन्म का दुरुपयोग है। यह तो मणि देकर काँच लेना है। यह बुद्धिमत्ता नहीं। मनुष्य जीवन की सार्थकता तो सेवा में है। सेवा ही परम धर्म है सेवा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, सेवा ही स्वर्ग है, कहाँ तक कहे सेवा ही सब कुछ है। जो सेवा करना नहीं जानता वह कुछ नहीं जानता। सेवा दो प्रकार की है, एक चल सेवा एक अचल सेवा। माता-पिता गुरु, भगवद्भक्त अतिथि तथा प्राणिमात्र को भगवान् का स्वरूप समझ कर भगवद् बुद्धि से उनकी यथाशक्ति सेवा करते रहना यह चल सेवा है, और भगवान् के अर्चाविग्रह मूर्ति आदि में भगवान् की श्रद्धा सहित सेवा करना यह अचल सेवा है। जो दोनों ही करते हैं वे ही सच्चे भगवद् भक्त हैं। कोई ऐसा है कि दिनभर तो घंटो हिलाता है, भगवान् की प्रतिमा की पूजा करता है, किन्तु माता, पिता, गुरु, साधु वैष्णव तथा अन्य सभी प्राणियों से द्वेष करता है, वह पूजक नहीं वञ्चक है। इसी प्रकार जो जन सेवक बनने का तो मन में अहंकार करता है, किन्तु भगवद् भक्तों को देखकर जल जाता है। मूर्ति पूजा और धार्मिक कृत्यों को ढोंग दम्भ बताता है। वह भी यथार्थ में जन सेवक नहीं। वह एक प्रकार का व्यवसायी है। यथार्थ में ये दोनों एक ही हैं। जो अचल प्रतिमा अर्चाविग्रह में विराजमान हैं वे ही प्राणिमात्र में रम रहे हैं। यही सेवा का सर्वोत्तम सिद्धान्त है।

श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कह रहे हैं—"राजन्! राजर्षि अम्बरीष वैसे तो सम्पूर्ण वसुन्धरा के सम्राट थे, धर्म पूर्वक सब का शासन करते थे, प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, सब में अपने सर्वेश्वर स्वामी को व्याप्त समझते थे, किन्तु उनकी समस्त इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में ही होता था। मन मे सर्वभूतों में भगवान् को समझ कर तन से उन्हीं का कैंकर्य किया करते थे।

वे अपने नेत्रों की सफलता उसी में समझते थे कि भगवान् की मनोहर मूर्ति को ये निगोड़े नयन अपलक निहारते ही रहें। राज्य के मंदिरों में वे नित्य प्रति नियम से दर्शनों के लिये जाया करते थे। वहाँ जाकर प्रसादी, चंदन, चरणामृत और प्रसादी नैवेद्य वे लेते। भगवान् के निर्माल्य को वे मस्तक पर चढ़ाते, प्रसादी माला को वे पहिनते और भगवान् के चरणों में चढ़ी मञ्जरी सहित तुलसी को वे बड़े उल्लास के साथ सूँघते।

उनके घर में भी निजकी सेवा पूजा थी, जिस प्रकार अत्यंत स्नेहमयी ममतामयी माता अपने इकलौते पुत्र को लाड़ लड़ाती है, प्रेम से प्रतिपल उसकी देख रेख रखती है उसी प्रकार वे भी अपने गोपाल जी की सेवा करते। उनके लिये चुन चुनकर सुन्दर से सुन्दर पुष्प लाते, मोटे मोटे रङ्ग-विरंगे हार बनाते, सुन्दर हरी हरी मञ्जरी सहित तुलसी के दल लाते। भगवान् के एक एक नाम से एक एक दल चढ़ाते। विधिवत् षोड़शोपचार पूजा करते, पंडितों के मुख से भागवती कथा श्रवण करते, इस प्रकार मध्याह्न पर्यंत वे ठाकुर सेवा में ही लगे रहते। फिर भगवद् भक्तों को भगवान् का प्रसाद पवाकर

जो कुछ उच्छिष्ट अवशिष्ट रह जाता उसी भगवान् के महामहा प्रसाद को बड़ी रुचि के साथ पाते। उनके शिर को ऐसा अभ्यास हो गया था कि जहाँ भी कहीं भगवान् का मंदिर, भगवान् का श्री विग्रह दिखाई दे जाता, अपने आप ही नत हो जाता। गौ ब्राह्मण, साधुसन्त तथा गुरुजनों को देखते ही वह नीचे नव जाता था। पैरों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे भगवान् के मंदिर और तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा के लिये बड़े चाव से अपने आप चलते। उनके जो भी कार्य होते वे अपने शरीर सुख के निमित्त नही, किन्तु प्रत्येक कार्य में उनका लक्ष्य यही रहता था कि मेरे इस कार्य से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न हों। जो भगवद् भक्ति भक्तों का ही आश्रय ग्रहण करके रहती है वह अनपायिनी विनयवाहिनी भक्ति मुझे प्राप्त हो। उनकी भगवद् भक्ति का ऐसा प्रभाव था कि घर घर में भगवान् की अर्चा पूजा होने लग गयी थी। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है।

महाराज अम्बरीष की भगवद् भक्ति सम्पूर्ण सन्सार में फैल गई थी। किसी राजकुमारी ने उनके भक्ति भाव की प्रशंसा सुनकर मन ही मन उन्हें अपना पति वरण कर लिया था। उस राजकुमारी ने लजाते हुए एक दिन बड़ी नम्रता से ही अपने पिता से कहा—"पिता जी! मुझे आप के सम्मुख ऐसी बात कहनी तो न चाहिए, किन्तु बिना कहे काम भी नहीं चलता, अतः कहना ही पड़ता है!"

पिता ने बड़े स्नेह से कहा—'बेटी! तू ही तो मेरी सब से प्यारी पुत्री है। तू जो कहेगी, वही मैं करूँगा। तेरी जैसी भक्ति-भाव वाली पुत्री बड़े भाग्य से प्राप्त होती है।"

पुत्री ने कहा—"पिता जी! मेरी इच्छा है कि मैं राजर्षि

अम्बरीप को चेरी बनूँ। मैंने मन ही-मन उन्हें अपना पति वरण कर लिया है।"

राजा ने कहा—"बेटी ! कहाँ, वे चक्रवर्ती सम्राट् और कहाँ हम साधारण मंडलिक भूमिपति। वे हमारी इस प्रार्थना को क्यों स्वीकार करने लगे। यदि वे स्वीकार करलें, तो मेरे लिये इससे बढ़कर प्रसन्नता की कोई दूसरी बात हो ही नहीं सकती।"

राजकुमारी ने कहा—"पिताजी ! हमें उनके साम्राज्य से क्या करना है। मैंने कुछ उनके राज्य, धन, वैभव तथा सुख सामग्रियों के लालच से तो उन्हें वरण नहीं किया है। मैं तो उनकी भगवद् भक्ति पर ही रीझ गई हूँ। मैं तो उनके दर्शनों से ही कृतार्थ होना चाहती हूँ। आप उन्हें एक पत्र लिख दें, अपनी ओर से प्रार्थना करें। देखें, वे क्या कहते हैं।"

पुत्री की बात मानकर राजा ने एक विनय पत्र लिख दिया कि इस प्रकार मेरी परम भगवद् भक्ता पुत्री ने आप को पतिरूप से वरण किया है। अब आप की जो आज्ञा हो। पत्र लेकर एक वृद्ध ब्राह्मण महाराज अम्बरीप के निकट गये। महाराज ने पढकर कुछ सोचकर कहा—"रानी तो मेरे यहाँ और भी कई हैं, यदि वे मुझ से कोई वैसा सम्बन्ध न रख कर सदा प्रभु में ही संलग्न रहें तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

ब्राह्मण ने लौटकर ये सब बातें राजा और राजकुमारी से कहीं। सुनकर राजकुमारी ने फिर ब्राह्मण के हाथों सन्देश भेजा कि यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि महाराज के मन में

श्री का लोभ नहीं है। वे सांसरिक सुख के लिये नहीं भगवद् भक्ति के लिये ही सब कुछ करते है। यह मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है कि महाराज ने मेरी विनती स्वीकार कर ली है। मुझे भी संसारिक विषयों की अभिलाषा नहीं है। मेरा मन तो उनके भाक्ति भाव पर ही रीझ गया है, इसीलिये मैंने उन्हें मन ही मन अपना पति बना लिया है। अब मैं परपति का मुख भी देखना नही चाहती। यदि महाराज मुझे स्वीकार न करेंगे, तो शरीर से उनके समीप न पहुँच सकी तो मेरे प्राण वहाँ पहुँच ही जायेंगे।"

ब्राह्मण ने फिर से जाकर राजकुमारी की ये सब बातें महाराज अम्बरीष से निवेदन कर दीं। अपने ऊपर राजकुमारी का इतना स्नेह समझकर महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने पालकी और कुछ सवारों के साथ अपना खड्ग भेज दिया। राजाओं का प्रथम विवाह तो साक्षात् वर कन्या के साथ होता था। और अन्य विवाह खड्ग से होते थे।

उन राजा ने बड़े हर्ष के साथ खड् के साथ कुमारी का लौकिक वैदिक कृत्य कराके दान दक्षिण के साथ कुमारी को महाराज के यहां भेज दिया। महाराज ने अपनी नई बहू का बड़ा आदर किया। मन्दिर के समीप ही नये भवन में उसे वास दिया, और उसकी समस्त आवश्यक भोग सामग्री और सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

दूसरे दिन बहुत तड़के प्रातःकाल नई रानी उठ कर चुपके चुपके महाराज के पूजा मन्दिर में गई। नौकर चाकर कोई रोक नहीं सकते थे। चुपचाप भीतर गई। मन्दिर को भलीभांति

धोया। पार्षदों को खटाई से मल कर स्वच्छ किया। सुन्दर सुन्दर हार बना कर रखे। पूजाकी सब सामग्री जुटाकर महाराज के उठने के पूर्व ही वे चली गईं

प्रातःकाल उठ कर नित्यकर्म से निवृत्त होकर राजा जब अपने पूजा गृह में गये, तो क्या देखते है कि पूजा की सभी सामग्री सुन्दर ढंग से सजाई हुई हैं। उन्हें इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बार बार सोचने लगे—"किसने यह मेरी सेवा चुराई है। किन्तु वे कार्य इतनी स्वच्छता से किये गये थे कि राजा का मन रीझ गया, किसी से कुछ पूछा नहीं। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। तीसरे दिन भी। तब तो राजा की उत्सुकता बहुत बढ़ गई, वे सोचने लगे इस सेवा चोर को तो पकड़का चाहिये। यह सोच कर वे चौथे दिन जागते रहे। ज्यों ही रानी सेवा करके निकली त्यों ही राजा ने उनका हाथ पकड़ लिया और पूछा—"तुम कौन हो? यह सुन कर रानी सकपका गई। उन्होंने तो महाराज के दर्शन किये थे किन्तु महाराज ने उन्हें नही देखा था। अत्यन्त लज्जित होकर डरते डरते नई रानी ने कहा—"प्रभो! मैं आपकी चरण किंकरी नई दासी हूँ। मेरे अपराध को क्षमा करें।"

अपनी नई रानी के भक्तिभाव को समझ कर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने स्नेह भरित हृदय से अपनी प्रिया का गाढ़ालिंगन किया और उनके बालों को

सम्हाल कर कान में कहा—' प्रिये ! यदि सेवा में तुम्हारी ऐसी ही रुचि है, तो अपने मन्दिर में भगवान् की सेवा स्थापित कर लो ।"

राजा ने स्नेहवश उनके कान में कहा था। किन्तु रानी ने इसे गुरु मंत्र मान लिया । मेरे गुरु पतिपरमेश्वर की यही आज्ञा है । अतः उन्होंने बड़े उल्लास से अपने यहां भगवान् की पूजा स्थापित कर दी । न जाने कितने सहस्र वर्षों के दान धर्म और पुण्य का यह फल था कि रानी के हृदय में ऐसी अलौकिक भगवद्भक्ति उत्पन्न हुई थी वे राजरानी थीं । किसी वस्तु की कमी नहीं थी, सम्राट् उनके अनुकूल थे, उदारता आदि गुण उनमें भगवद् भक्ति के साथ स्वाभाविक ही थे । अतः अब तो भगवान् की नित नूतन पूजा होने लगी । बड़े चाव से अत्यन्त उल्लास से वे भगवान् की पूजा करतीं । यही समझती मेरे पतिपरमेश्वर गुरु की यही सेवा है । सायंकाल को अत्यन्त प्रेम से भगवान् का सुन्दर शृंगार करके और स्वयं भी मंडनो से मंडित होकर वीणा लेकर भगवान् के सम्मुख बैठ जाती और वीणा बजाती हुई अपने कोकिल कूजित कंठ से भगवान् की विरुदावली गातीं । पद गा गाकर उन्हें रिझातीं । नेत्रों से निरन्तर श्रावण भादो की वर्षा के समान अश्रुओं की झड़ी लग जाती । तन्मय होकर वे अपने आप को भूल जाती मन्दिर में किसी तीसरे को प्रवेश करने की आज्ञा नहीं थी ।

राजा को तो चटपटी लगी हुई थी। एक दिन सयंकाल को चुपके चुपके रानी के मन्दिर में गये। दूर से ही उन्होंने देखा, वह साकार सुन्दरता के समान, मूर्तिमती भक्ति के

समान, सजीव विनय के समान वीणा लिये हुए भगवान् के सम्मुख बैठी है, नेत्रों से झरझर अश्रु बह रहे हैं। कमल की पंखुड़ियों से भी कोमल उँगलियां स्वतः ही वीणा के तारों पर पड़ रही हैं, पद के शब्द स्पष्ट निकल रहे हैं,

शरीर की सुधि नहीं, उन्मादिनी की भांति ध्यान में तदाकार बनी स्वर लहरी की झंकार के साथ उसकी चित्त की वृत्ति तदनुरूप ही हुलसित हो रही है । क्षण क्षण में हृदय में नवीन नवीन हिलोरें उठ रही हैं, जिनमें वह डूबती उतराती आत्म-विस्मृत सी बनी गा रही है । अपने राम को रिझा रही है ।

कुछ काल तो महाराज बाहर खडे खडे सुनते रहे अब उनसे रहा न गया वे सहसा भीतर प्रवेश कर गये । महाराज के प्रवेश करते ही रानी का ध्यान भग हुआ । वह अपने सम्मुख अपने पतिपरमेश्वर को देख कर सहसा सकपका कर उठ खड़ी हुई । उनके वस्त्र अस्त व्यस्त हो रहे थे । बाल खुले हुए थे । उन्हें शीघ्रता मे सम्हलती हुई वे लज्जा के कारण घड़बड़ा उठीं । वीणा एक ओर लुढ़क गई । उँगलियां काँप गईं । महाराज ने उन्हें हृदय से लगाते हुए कहा—"प्रिये ! तुम धन्य हो । अहा ! इतना अनुराग, ऐसा स्नेह, मेरे भी हृदय में कभी होगा क्या ?"

यह सुन कर लज्जा से नीचा सिर किये प्रेम के अश्रु बहाती अपने भाग्य को सराहतीं, धड़कते हुए हृदय से भार को कठिनता से सम्हालती हुई, महाराज के सहारे से वह खड़ी की खड़ी ही रह गई । उनके मुख से एक शब्द भी न निकला।

तब महाराज ने कहा—"प्रिये ! जो पद गा रही थी, उसे ही मुझे फिर से उसी लय से सुनाओ मेरा अतृप्त हृदय व्याकुल हो रहा है । उस पद ने मेरे रोम रोम में आनन्द का बीजारोपण कर दिया है ।

अपने पति परमेश्वर की ऐसी आज्ञा पाकर रानी ने वीणा

उठाई और उसी मस्ती से उसी ध्वनि मे वैसी ही तन्मयता से उसी पद को पुनः गाना आरम्भ कर दिया। प्रकृति स्तब्ध थी। सब सो रहे थे। तीन ही जाग रहे थे। राजा और रानी तथा तीसरे उनके भगवान्। प्रेम की सुवर्ण वेला निशा में दो प्रेम के पगले प्रेमी एकान्त भवन में बैठे अपने इष्ट के ध्यान में तन्मय थे। दो शरीरों में एक मन सञ्चार कर रहा था। दो धड़कन एक हो कर साथ ही शब्द कर रही थीं। उस समय जो अनुपम रस की वृद्धि हो रही थी, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दोनों प्रेम में विभोर हुए हरि-अर्चा में निमग्न थे। उनका ध्यान तब टूटा जब प्राची दिशि से भगवान् भुवन-भास्कर ने आकर दोनों के अंगों पर अपना सुनहरा प्रकाश डाला। सम्पूर्ण रात्रि क्षण के समान बीत गई। इस प्रकार नित्य ही हरिचर्चा में समय व्यतीत होने लगा। महाराज अब नई रानी के महल को छोड़ कर अन्य रानियों के यहाँ जाते ही नहीं थे। उन्हें अवकाश ही नहीं था।

जब यह बात अन्य रानियों को विदित हुई तो वे समझ गईं छोटी रानी ने अपनी भगवद् भक्ति से महाराज को वश में कर लिया है वे बाहरी रूप पर आसक्त होने वाले नहीं। भक्ति से ही वे वश में किये जा सकते है। अतः सभी ने अपने घर में भगवान् की अर्चा विग्रह की स्थापना कर ली। सभी रानियाँ पूजा करने लगीं। सभी नये नये उत्साह से सेवा करतीं। अब तो महाराज उनकी सेवा देखने भी आने लगे। यह बात समस्त नगर में फैल गयी और प्रजा के सभी लोगों के घरों में भगवान् की पूजा होने लगी। जैसा राजा होता है वैसे ही प्रजा हो जाती है। इस प्रकार राजा की भगवद् भक्ति के प्रभाव से समस्त प्रजा में भगवद् भक्ति का प्रचार और प्रसार हो गया।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन् ! इस प्रकार वे भगवद्-भक्त राजर्षि अम्बरीष अपने सम्पूर्ण कर्मो को चराचर के आत्मा यज्ञपुरुष भगवान् अधोक्षज में अर्पित कहके भगवद् भक्त ब्राह्मणों के आदेशानुसार राजकाज करते हुए समय यापन करने लगे।"

छप्पय

राजकुमरि इक सुनी भक्ति नृप पति वरि लीन्हें।
भगवद् भक्ति प्रभाव भूप निजवश महँ कीन्हें॥
अन्यहु रानिनि सुनी विष्णु पूजा स्वीकारी।
प्रजा भूप रुख निरखि भये सब भक्त पुजारी॥
भरी भक्ति सब देशमहँ, नृपहि सराहैं साधुगन।
सबहि कहैं जस होहि नृप, तस ही होवें प्रजाजन॥

अम्बरीष की एकादशी व्रत निष्ठा

(६१४)

आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया।
युक्तःसांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥
(श्री भा० ६ स्क० ४ अ०, २६ श्लो०)

छप्पय

करहि भूप जो काज कृष्ण अर्पन करि देवें।
सेवा श्रद्धा सहित करहिं नित प्रति हरि सेवें ॥
धन-जन, सुत परिवार कबहुँ अपने नहिँ जाने।
विषय भोग सब रत्न जगत के मिथ्या माने ॥
तन्मय नित हरि भक्ति महँ, रहैं सोच हरि कूँ भयो।
रिपु भय हेतु नियुक्त प्रभु, चक्र सुदर्शनि करि दयो ॥

मनुष्य के विश्वास की कमी है, नहीं तो जो जिसके आश्रय से रहता है, वह उसका पालन करता ही है, और के लिए अपवाद भले ही हो, किन्तु, जो अनन्यभाव से हरि की उपासना करते हैं, उन आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त करना और जो

※ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! एक बार वीर राजर्षि अम्बरीष ने श्रीकृष्ण की आराधना के निमित्त, अपने ही समान शीलवाली रानी के सहित द्वादशी व्रत करने का संकल्प किया।"

वस्तु है उसकी रक्षा करने के कार्य को स्वयं साक्षात् श्री हरि करते हैं। उनके आश्रय मे रहने वाले को यदि वस्तु की कमी प्रतीत होती है, तो समझना चाहिये कि भगवान् उसका इसी में हित कर रहे है। भक्त तो सब मे भगवान् का हाथ देखता है। उसके लिये सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि सभी समान हैं, ये सब उन श्री हरि की देन है। जिसमें वे हमारा कल्याण समझते हैं उसी को करते हैं। ऐसा जिसका स्वभाव हो गया, उसकी चिन्ता श्री हरि को सदा बनी रहती है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! मैं महाराज अम्बरीष का चरित्र कह रहा था, इन महाराज का सम्पूर्ण समय सर्वेश्वर की आराधना में ही व्यतीत होता था। ये बड़े-बड़े विशाल यज्ञों द्वारा भी अच्युत की आराधना करते थे। मारवाड़ के समीप जो कुछ जलवाला प्रदेश है उसे धन्व देश कहते हैं। उस धन्व देश में सरस्वती नदी जहाँ नीचे ही नीचे बहती है, जहाँ उसका प्रभाव सूख गया है वहाँ उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले सैकड़ों अश्वमेध आदि यज्ञ किये थे, जिनमें वशिष्ठ, असित तथा गौतम आदि बड़े-बड़े विख्यात ऋषि महर्षि आचार्य बने थे। जिनमें ब्राह्मणों को यथेष्ठ दान दक्षिणायें दी गई थीं। उन महान् ऐश्वर्यशाली यज्ञों द्वारा उन्होंने सनातन यज्ञ पुरुष का वैदिक विधि के साथ श्रद्धा सहित यजन किया था। उनके यज्ञों में देवताओं ने प्रत्यक्ष सशरीर उपस्थित होकर यज्ञ के भागों को ग्रहण किया था। राजा के मन में उन देवताओं के वेष भूषा को देख कर ऐसी होड़ सी लग गई थी कि इस प्रकार से मैं अपने यज्ञ के ऋत्विक अध्वर्यु होता और सदस्यों को भी सजाऊँ। अतः उन्होंने देवताओं के से वस्त्र भूषण पहिनाकर

ब्राह्मणों को देवताओं के समान ही बना दिया था। अन्तर इतना ही रह गया था, कि देवताओं के पैर पृथिवी पर नहीं पड़ते थे और विप्रगण पृथिवी का स्पर्श किये हुए उठते बैठते थे। यह नहीं, महाराज के सत्संगी जो निरन्तर उनके सानिध्य में रह कर पुण्य कीर्ति श्री हरि की श्रुत मधुर कथाओं को निरन्तर सुना करते। उस स्वर्ग को लेकर करना ही क्या, जहाँ भोग ही भोग है। जहाँ मुक्तिदाता महेश्वर के मनोहर चरित्र नहीं, त्रैलोक्य पावन प्रभु के पुण्यमय नामों का कीर्तन नहीं। चाहे कितने भी बड़े से बड़े योग्य पदार्थ क्यों न हो, किन्तु सेवा कथा, रस, रूप परमानन्द के सम्मुख तो वे तुच्छातितुच्छ ही है। अतः वे निरन्तर श्रवण कीर्तन में महाराज के साथ निमग्न रह कर यहीं वैकुण्ठ सुख का अनुभव करते थे।

महाराज अम्बरीष का सम्पूर्ण जीवन तपस्यामय था। उनका कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता था, जो भगवान् के निमित्त न किया गया हो। वर्णश्रम धर्म का पालन करते हुए भी उनके फलों की कभी इच्छा न करते थे। धर्मों का पालन वे पुण्य लोकों की प्राप्ति के निमित्त नहीं, किन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से विष्णु प्रीत्यर्थ ही करते थे। उनकी संसार के किसी विषय में भी आसक्ति नहीं थी। घर को वे भगवान् का मन्दिर मानते थे, भगवान् की पूजा के निमित्त ही घर है। जैसे स्वामी के घर में उनके बहुत से दास दासी परिचारक रहते हैं, वैसे अपने को श्री हरि का एक किंकर समझ कर महलों में निवास करते थे। उन्हें यह आसक्ति नहीं, कि ये महल मेरे हैं। स्त्री पुत्र, बन्धु बान्धव तथा अन्य समस्त परिवार वालों को वे यही समझते थे जैसे एक स्वामी के कार्य को बहुत से सेवक हिल-मिल कर एक साथ करते है, कार्य समाप्त होने पर पृथक हो

जाते हैं उसी प्रकार भगवान् की सेवा के निमित्त हम सब एकत्रित हो गये है । सब वैष्णव है उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के आश्रित हैं । हमारा इनसे जो सम्बन्ध है वह वैष्णवता का ही सम्बन्ध है । उनकी जो चतुरङ्गिणी सेना थी, अक्षयरत्न थे, विविध भाँति के बहुमूल्य वस्त्राभूपण थे, अक्षय धन राशि थी तथा अस्त्र, शस्त्र आदि जो भी राजसी सामग्री थी, उस सबको वे अपनी नहीं मानते थे । ये सब भगवान् की वस्तु हैं उन्होने मुझे इनकी देख रेख के लिये नियुक्त कर रखा है । इन नाशवान् अनित्य पदार्थों में उनकी स्वप्न में भी सद्बुद्धि नही होती थी । वे एक श्रीहरि को छोड़ कर सभी को नाशवान् क्षणभगुर और मिथ्या मानते थे ।

वे भगवान् की पूजा कर रहे है, किसी ने आकर कहा— "शत्रु ने चढाई कर दी है, तो आप पूजा को छोड़ कर नही जाते थे । उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिनकी मैं पूजा कर रहा हूँ, उनसे बढ़ कर तो वह होगा नहीं जिसने चढ़ाई की है । फिर मैं उनकी सेवा छोड़ कर क्यों जाऊँ ।"

इसीलिये भगवान् को भी उनकी चिन्ता रहती थी । माता को उसी अबोध बच्चे को अधिक चिन्ता रहती है, जो स्वयं खा पी नही सकता, स्वयं उठ बैठ नहीं सकता । माता के ऊपर ही अवलम्बित रहता है । उसका ध्यान वह सदा रखती है । रात्रि में उसे हृदय से चिपटा कर सोती है, स्वयं गीले मे सो कर उसे सूखे में सुलाती है, जो अपने पैरों खड़ा हो सकता है, अपने हाथों भोजन कर सकता है । उसकी माता को उतनी चिन्ता नही रहती इसी प्रकार जो भक्त भगवान् को छोड़ कर अन्य कुछ जानते ही नहीं भगवान् हर समय उनके पीछे पीछे फिरते रहते है, इन्हें कही

कोई कष्ट न दे, कहीं भूखे न रह जायँ। इसीलिये भगवान् मुक्ति तो देते हैं, भक्ति नहीं देते, क्योंकि भक्ति देने से तो उनके योगक्षेम का ही निरन्तर प्रबन्ध नहीं करना पड़ता अपितु उनके पीछे पीछे फिरना पड़ता है। उनकी प्रत्येक आवश्यक सामग्री श्रीहरि को स्वयं ही लाकर जुटानी पड़ती है।

भगवान् ने जब देखा, अम्बरीष तो निरन्तर मेरी भक्ति में ही डुबा रहता है, शत्रुओं के निवारणार्थ वह कुछ भी चिन्ता नहीं करता, तब तो उन्होंने अपने चक्र सुदर्शन को आज्ञा दी कि तुम जाकर महाराज की सर्वभाव से रक्षा करो। तब से चक्र सुदर्शन भगवान् की आज्ञा से राजा के ऊपर मँडराता रहता था। राजा के ऊपर जो भी आपत्ति विपत्ति आती उसे चक्र सुदर्शन ही भस्म कर देता। राजा का कोई कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता। जिसकी रक्षा भगवान् का चक्र करता है, उसका कोई कर ही क्या सकता है। इसीलिये वैष्णव सब शंख चक्रांकित होते हैं। भगवान् के इन प्रियों आयुधों के चिन्हों को वे अपनी भुजाओं में धारण करते है, स्वामी प्रदत्त चिन्हों के धारण करने से ही तो लोग जान सकते है, कि ये अमुक के सेवक हैं, अमुक के शरणागत हैं। इस प्रकार राजा तो निश्चिन्त होकर भगवत् स्मरण पूजन किया करते थे किन्तु भगवान् का चक्र सदा सचेष्ट होकर उनकी रक्षा में तत्पर रहता था।

वैष्णवता के मुख्य चिन्ह ये हैं, सदा नवधा भक्ति में लगे रहना, तिलक मुद्रा आदि वैष्णवोचित चिन्हों को धारना, भगवान् की पूजा करके नैवेद्य को ही प्रसादी रूप में पाना, श्री हरि के बिना अर्पण किये हुए किसी भी वस्तु का

उपभोग न करना, दिव्यदेशों और धामों की यात्रा करना, वैष्णव, गौ, तुलसी, गुरुजन ब्राह्मणों, की तथा प्राणिमात्र की भगवद् बुद्धि से सेवा करना और एकादशी व्रत का नियमपूर्वक पालन करना। सम्वत्सर में जितनी २४ एकादशी होती हैं सभी में उपवास भी रखना। महाराज अम्बरीप भी सदा एकादशी व्रत किया करते थे। एक बार उन्होंने अपनी भक्तिमती रानी के सहित एक वर्ष की समस्त एकादशीयों के व्रत का एक विशेष अनुष्ठान किया। जब वह अनुष्ठान पूर्ण हुआ, तो यमुना तट पर जाकर सम्वत्सर के अन्त में कातिक महीने में व्रत का उद्यापन करने का निश्चय किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सामर्थ्यवान् पुरुप को व्रत का उद्यापन अवश्य करना चाहिये। उद्यापन करने से व्रतसाङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो जाता है। एकादशी का व्रत जिसने नही किया, उसका जीवन तो निरर्थक ही है। समस्त पुराणों को पढ़ जाइये उनमें ५ बातें ही मिलेगी। भगवान् के अवतारों की कथा, तुलसी महात्म्य, गंगामाहात्म्य, शालिग्राममाहात्म्य, और एकादशी व्रत महात्म्य। सभी पुराणों में एकादशीव्रत की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है महाराज रुक्माङ्गद को तो एकादशी व्रत पर ऐसी निष्ठा थी, कि उन्होंने पुत्र का वध करना तो स्वीकार किया किन्तु एकादशी व्रत नही छोड़ा।"

यह सुनकर शौनक जी बोले—',सूतजी! यह एकादशी कौन है। इसकी उत्पत्ति कैसे हुई। महाराज रुक्मांगद कौन थे उन्होंने एकदशी व्रत के पीछे अपने पुत्र का वध क्यों किया, पहिले आप हमें एकादशीव्रत का महात्म्य सुनावे तब महाराज अम्बरीप के अग्रिम चरित्र को सुनावें।"

इस पर अत्यंत ही हर्षित होकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो! मैं आपको प्रथम एकादशी महात्म्य की ही कथा सुनाऊँगा, तब परम भागवत राजर्षि अम्बरीष के अग्रिम चरित्र को कहूँगा। आप इस परम पुण्यप्रद आख्यान को भक्ति भाव के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

काम क्रोध कूँ जीति दुष्ट मन कूँ नृप मारे।
हरिवासर उपवास करहिं वैष्णवव्रत धारें॥
पूछें शौनक सूत कह्यो हरिवासर काकूँ।
करें मनुज उपवास अन्न खावें नहिं जाकूँ॥
एकादशी महान् व्रत, सूत कहैं सब पाप हर।
करतहिँ नियम तें व्रत, सदा, ते जायें बैकुंठ नर॥